आमुख

—#—

भक्ति-तत्त्वका अनुवाद रसज्ञ पाठकोंके सामने रखते हुए मुझे आनन्द हो रहा है। ऐसा विश्वास है कि भक्ति विषयक अज्ञानता तथा अनुचित कट्टरता जो अशास्त्रीय है सो दूर हो जायगी। भक्तिकी परिपुष्ट अवस्थामें प्रेम होता है, प्रेममे भेदभाव रह नहीं सकता, जहाँ भेदभाव नहीं है वहाँ ईर्ष्या, द्वेष, घृणा इत्यादि भी नहीं है। यह तो मालिन्य है जो भक्तमात्रको त्याज्य है, अतः इस पुस्तक पाठसे भक्ति साधक उदारहृदय, निर्मल और प्रेमी होंगे, मुझे ऐसी आशा है।*

—अनुवादक

---

*श्रीमत स्वामी जपानन्दजी महाराजके निर्देशसे इसमे कुछ परिवर्तन व परिवर्द्धन किया गया है।

ॐ

निवेदन

—*—

परम प्रभु परमेश्वरकी प्राप्तिके लिये भक्ति-मार्ग सरल, सहज मार्ग है। मानव-हृदयमे जितने कोमल भाव है, उनमेसे प्रेम सर्वश्रेष्ठ है और यह ही प्रेम जब परमेश्वरके प्रति प्रयुज्य होता है, तब हम उसे भक्ति आख्या देते हैं।

मानव जीवनको सरस बनाती है यह भक्ति—उपभोग्य करती है पवित्र प्रेमरस सिचन करके। इसलिये हमारे ऋपियोंने बहुत प्राचीनकालसे ही इसकी प्राप्ति, सरक्षण तथा सवर्धनके लिये नाना उपाय उद्भावन किये हैं और वैज्ञानिक दृष्टिसे सम्पूर्ण शास्त्रीय मर्यादा अर्पणकर इसकी यौगिक विधि निर्देश कर गये है। यह सब हमे भक्ति ग्रन्थोंमे प्राप्त है अत यहाँ उल्लेख मात्र हम करते है।

इस छोटी-सी पुस्तिकामे तो भक्तिमार्गके मूल सिद्धान्तके साथ उसकी प्राप्तिके लिये शास्त्रीय साधनोंका निर्देश मात्र है जिसमे ग्रन्थकारोंने भक्तिरसामृत सिन्धु, श्रीरामकृष्ण लीलाप्रसग इत्यादि विविध पुस्तकोंसे सहायता ली है जिसके लिये आभार मूल गुजराती पुस्तकमे विशेषरूपसे माना गया है। हम यहाँ पुनराय ग्रन्थकारोंके साथ उन सबका हार्दिक आभार मानते है।

हमे विश्वास है कि यह भक्ति-तत्त्व पुस्तिका असाम्प्रदायिक

उदार तथा विशुद्ध भक्तिमार्गकी पूर्ण सूचना देकर, इस पथमें जो अवांछनीय अनुदार भावोंका प्रचार नज़र आता है सो दूर कर सकेगी। ईश्वरप्रेममें नहीं है भेद; जो यथार्थ भक्त हैं—प्रेमी हैं, उनमे भी भेदभाव नहीं होता। पर सखेद कहना पड़ता है कि, अज्ञतासे छाई है साम्प्रदायिक बुद्धि, जिससे हम इतना तीव्र भेद देख पाते हैं—जिसमे मानवताका स्थान भी नहीं नजर आता। हम दृढ़तासे कहते है कि आत्मकल्याण या जातीय कल्याण तो इसमें है नहीं, इस मानवता-शून्य पथमें तो अवनति तथा नुक़सान ही है। अतः जैसे परम उदार परमहंस श्रीरामकृष्णजी कह गये हैं कि—'अपने-अपने पंथीय भावादर्शमे स्थिर रह करके भी हमे औरोंके भिन्न-प्रतीत आदर्शके प्रति सकुचित मनोवृत्तिका पोषण नहीं करना चाहिये। सभी चलते है उन्हींके राह पर—जाने या न जाने।' जो परम दयालु सर्वज्ञ सर्वान्तर्यामी परमेश्वर सभीके हृदयमें वर्तमान हैं, उनकी कृपा भक्तमात्रके प्रति समान भावसे बरसती है, सभीके लिये स्थान है प्रभुके दरबारमे। जो जिस भावसे, जिस रूपसे मुझे भजते हैं उनके पास मै वैसा ही प्रतीत होता हूँ, श्रीभगवान्की यह उक्ति हम याद करके सुज्ञ पाठक-वर्गके आगे यह चतुर्थ पुष्प धरते हैं। आशा है कि यह भी पूर्ववत् समादृत होगा। इत्योम्।

—प्रकाशक

अनुक्रमणिका

प्रकरण चौथा

प्रकरण पाँचवां

प्रकरण छठा

ॐ

भक्ति-तत्त्व

प्रकरण पहला

१. भक्तिके लक्षण

सरल भावसे ईश्वरका अनुसंधान करनेका नामही भक्तियोग है। प्रेम ही इसका आदि, मध्य और अन्त है। क्षण मात्रभी यदि यथार्थ भगवत्प्रेम की उन्मत्तता आवे तो उससे शाश्वती मुक्ति मिल सकती है। नारद भगवान् भक्ति सूत्रमें कहते है किः—

ॐ सा कस्मै परम प्रेम रूपा, अमृत स्वरूपा च ॥

भगवान्में परम प्रेमही भक्ति है। यह भक्ति अमृतस्वरूप है। (क्योंकि अमृतत्व प्रदान करती है)।

यल्लब्ध्वा पुमान् सिद्धो भवत्यमृतो भवति, तृप्तो भवति ।
ॐ यत्प्राप्य न किंचिद् वाञ्छति ॥
न शोचति न द्वेष्टि, न रमते, नोत्साही भवति ।
ॐ यज्ज्ञानान्मत्तो भवति, स्तब्धो भवत्यात्मारामो भवति ॥

(नारद भक्ति-सूत्र)

"जिसका साक्षात्कार करके मनुष्य सिद्धावस्थाको प्राप्त होते हैं, अमृतत्व प्राप्त करते हैं, और तृप्त होजाते हैं, जिसके मिलनेके पश्चात्, दूसरी किसीभी वस्तुकी इच्छा मनुष्य नहीं करता, शोक नहीं करता, द्वेष नहीं करता, दूसरी किसीभी वस्तुमें उसका प्रेम नहीं होता, और सासारिक कर्ममें उत्साहभी नहीं रहता। जिसका बोध होनेसे मनुष्य भगवत्प्रेममें उन्मत्त होजाता है तथा स्तब्ध और केवल आत्माराम होता है।"

इसी परमभक्तिको प्राप्त करके जीव सर्वभूतोंमें प्रेम परिपूर्ण और घृणा-विहीन बनता है।

ॐ सा न कामयमाना निरोधरूपत्वात् ॥

यह भक्ति किसी काम्य वस्तुको प्राप्त करनेके लिए नहीं होती, क्योंकि सर्व विषय वासनाओंका निरोध होनेके पश्चात्ही प्रेम-भक्तिका उदय होता है।

ऐसी भक्ति—कर्म, ज्ञान और योगसे श्रेष्ठ है, क्योंकि 'स्वय फलरूपतेति ब्रह्मकुमारा ॥' सनन्कुमार और नारदादिके मतानुसार यह भक्ति स्वयं फल-रूप है।

बहुतसे लोग ऐसा मानते हैं कि ज्ञान और भक्ति संपूर्ण भिन्न है, पर वास्तवमें ऐसा नहीं है। ज्ञान और भक्ति अन्तमें एकही लक्ष्यस्थलपर पहुँचाते है, और इसीप्रकार राजयोगभी।

भक्तियोग ईश्वर लाभके लिए अति सहज और सरल मार्ग है। दूसरे रास्तेमें जितनी कठिनाइयाँ हैं, उतनी इसमें नहीं हैं। किन्तु इस मार्गपर जानेवालोंके लिए सावधानी रखना अति आवश्यक है, क्योंकि निम्न श्रेणीकी भक्ति किसी किसी समय भयकर धर्मांधताका स्वरूप धारणकर लेती है। प्रत्येक धर्ममे जो धर्मांध व्यक्ति देखनेमें आते है, वे इस साधारण श्रेणीकी भक्तिमें ही रगे हुए होते हैं।

इष्टनिष्ठा बिना यथार्थ प्रेमकी उत्पत्ति नहीं होती यह सत्य है, परन्तु यह इष्टनिष्ठा यदि विचार-शून्य होवे तो प्राय. दूसरे धर्मोंके प्रति तिरस्कार-

बुद्धि और दोषारोपण करनेका कारण बनती है। इसी कारणसे अपने धर्मादर्शके विरुद्ध बातें सुनकर मनुष्य एकदम क्रोधित होजाता है। इस प्रकारके प्रेमकी तुलना अपने स्वामीके संबंधमें किसीतरहका हस्तक्षेप न करने देनेकी कुत्तेकी मनोवृत्तिके साथ हो सकती है। पर इसमेंभी इतना अंतर है, कि कुत्तेकी यह सहज वृत्ति मनुष्यकी सामान्य वृत्तिसे ज्यादा उत्कृष्ट है, क्योंकि मालिक चाहे जिस वेशमें आवे वह पहचानता है, कभी भी भूल नहीं होती, परन्तु मनुष्यमें यह सामर्थ्य न होनेसे उसका प्रभु यदि दूसरा वेश या नाम धारण करके आवे तो उसको वह पहचान नहीं सकता; और इसीकारण धर्मराज्यमें अनेक प्रकारके झगड़े उत्पन्न हुए हैं और होते हैं।

एकही परमेश्वर अनेक रूपोंमें प्रकाशमान है, किन्तु सत्यको न समझनेकी कमीसे एक धर्म दूसरे धर्मके, एक सम्प्रदाय दूसरे संप्रदायके दोषोंको प्रकट करनेमेंही अपनी शक्तिका क्षय करते हैं, और इन झगड़ोंमें पड़कर मूल विषयको भूल जाते हैं। इस संसारमें थोड़े समयके लिएही हम सबका आना हुआ है, पर इतने पर भी मनुष्य अपना सच्चा कर्त्तव्य छोड़कर आपसका विरोध करनेमेंही अपने तथा दूसरोंके जीवनका सर्वनाश करते हैं। ऐसा न करके धर्मका संचय करनेकी हर कोशिश करनी चाहिए। सब धर्मोंमें सारभूत वस्तु एकही है, और सब झगड़ा केवल बाह्यरूपके लिए ही होता है; इसलिए निरर्थक वादविवाद छोड़कर सार वस्तुकी ओर लक्ष्य रखनाही सबका परम कर्त्तव्य है। शिक्षा, रुचि और अवस्था भेदको लेकर ही मनुष्य भगवत् प्राप्तिके लिए विविध उपायोंका अवलंबन करते हैं, और इसीलिए पृथक-पृथक सम्प्रदायोंकी उत्पत्ति होती है, पर यदि उद्देश्यका विचार किया जाय तो एकही मालूम पड़ेगा। यह उद्देश्य मुक्ति और भगवत्प्राप्तिही है। इस सत्यका विस्मरण होनेसे ही मनुष्य निरर्थक वादविवादमें पड़ते है।

महिम्नस्तवके नीचे लिखे श्लोकमें सब मतभेदोंका समन्वय किया गया है।

त्रयी साख्य योगः पशुपतिमत वैष्णवमिति ।
प्रभिन्ने प्रस्थाने परमिदमद. पथ्यमिति च ॥
रुचीना वैचित्र्यादृजुकुटिलनानापथजुषाम् ।
नृणामेको गम्यस्त्वमसि पयसामर्णव इव ॥

"त्रयी, साख्य, योग, पाशुपत और वैष्णवमत इन सबका भिन्न-भिन्न स्थानमें आदर है । कोई इसको श्रेष्ठ कहते हैं, तो कोई उसको श्रेष्ठ कहते है । रुचिकी विचित्रताको लेकरही मनुष्य सीधे या टेढ़े मेढ़े मार्गका अवलम्बन करते हैं, पर सबके पहुँचनेका ठिकाना तो तू एकही है, जैसे सीधी और बाँकी टेढ़ी बहनेवाली समस्त नदियोंकी गति समुद्रमेंही होती है ।"

एकान्तिक हृदय, पवित्र चित्त, और सरल व्याकुल भावसे जो उनको बुलाते है, उसीको वे दर्शन देते हैं । जिसप्रकार एक दूसरेके साथ वाद करनेसे अँधेरेका नाश नहीं होता, पर उजालेसे ही उसका नाश हो सकता है, इसीप्रकार अज्ञानरूपी अँधकार भगवद्भक्तिरूपी उजालेसेही दूर होता है, निरर्थक वादविवादसे नहीं, परतु धर्मांध व्यक्तिकी विचार शक्तिका नाश हो जानेसे, व्यक्तिगत विषयोंपरही उसका लक्ष्य विशेष रहता है । दूसरा क्या कहता है, अथवा जो वह कहता है सो सत्य है या नहीं, यह विचार करनेकी वृत्ति उसमे नहीं रहती । बोलने वाला कौन है ? अपनेमेंसे है या नहीं ? इस तरफही उसका लक्ष्य होता है । बहुधा ऐसा देखनेमे आता है कि अपने सम्प्रदायको माननेवाले व्यक्तियोंके प्रति दयाशील, न्यायपरायण और प्रेमयुक्त वर्ताव रखनेवाले भक्तभी दूसरे सम्प्रदायको माननेवाले व्यक्तियोंके प्रति अति क्रूर वर्ताव करते तनिकभी नहीं हिचकिचाते । जगत्के धार्मिक इतिहासके अनेक पन्ने इसी क्रूरताके परिणामस्वरूप अनेक निर्दोषोंके रक्तसे रगे हुए है । जबतक पराभक्तिका लाभ नहीं होता तबतकही धर्मांधता टिक सकती है । इसप्रकारकी भक्तिका उदय होनेके पश्चात् साधक ईश्वरके प्रेमस्वरूपके इतना समीप पहुँच जाता है, कि उसमे किसीप्रकारका घृणाभाव या विद्वेष टिक नहीं सकता ।

इसी कारणसे यथार्थभक्त समदर्शी होता है । उसके पास छोटे-बड़ेका भेद

नहीं होता। जिसप्रकार आकाशमें बहुत ऊँचे उड़कर देखो तो नीचेकी सारी जमीन एकही तरहकी सपाट लगती है। वृक्ष, पहाड़ इत्यादिका ऊँचे-नीचेका भेद देखनेमें नहीं आता, उसीप्रकार उच्चहृदयवाले प्रकृत भक्तकी दृष्टिमें ऊँच-नीचका भेद-भाव नहीं होता, उसके मनमे जातिभेदकी मान्यता नहीं होती। प्रभु चैतन्यदेव कहा करते थे, कि जहाँ ऊँच-नीच ज्ञातिके भक्त इकट्ठे होते है, वहाँ सब भेदभाव भूलकर एक दूसरेसे प्रेमसे मिलते है, और प्रेमग्रथीसे जुड जाते हैं, क्योंकि सारे भक्त मात्र एकही परमपदार्थको प्राप्त करनेके लिए प्रयत्नशील होते हैं।

श्रीरामकृष्ण परमहँस देवको एकसमय किसी भक्तने पूछा कि "महाराज! ब्राह्मसंप्रदाय और हिन्दुधर्ममे क्या अंतरहे?"

उन्होंने उत्तर दिया कि, "अच्छी तरहसे देखो तो कोई भेद नहीं है; जिसप्रकार एक मनुष्य शहनाईमेंसे एकही तरहका सुर निकाले और दूसरा उसी शहनाईमेंसे अनेक तरहका राग बजावे, इन दोनोंमें फर्क नहीं, उसी प्रकार भिन्न-भिन्न सप्रदायोंमे भी अन्तर नहीं। कई संप्रदाय एकही रीतिको पकड़े रहते है, तो दूसरे कई सप्रदाय नाना प्रकारके भावो और रीतियोंको लेकर साधना करते हैं, इसमें कोई दोप नहीं। पानी वस्तुतः एकही है, पर भाषाभेदके कारण जल, वाटर, ऐकवा आदि अनेक नामोसे पहचाना जाता है, उसीप्रकार वस्तु एकही है पर भाव और उसके वर्णन करनेकी भाषा भिन्न होनेसे नाना प्रकारका भेद दिखाई देता है।"

पक्षीको उडनेमे तीन वस्तुओंकी आवश्यकता पड़ती है, दो पंख और एक पूँछ। ज्ञान और भक्ति दो पाखोके समान है, और इन दोनोंका सामंजस्य रखनेके लिए योग पूँछस्वरूप है। जो साधक इन तीनों प्रकारकी साधन प्रणालिकाओंको एक साथ सामंजस्य सहित काममे नहीं लासकता, और एकमात्र भक्तिकाही अवलंबन करता है उसको याद रखना चाहिए कि वाह्य अनुष्ठान और क्रियाएँ प्रारम्भिक अवस्थामें आवश्यक है, लेकिन भगवानमें गाढ प्रेम उत्पन्न करनेके सिवाय उनमें दूसरी उपयोगिता **नहीं है**। **श्रीरामा-**

नुजाचार्य वेदान्तसूत्रकी व्याख्या करते हुए लिखते हैं कि "एक पात्रमेंसे दूसरे पात्रमें निहित अविच्छिन्न तैलकी धाराकी तरह प्रवाहित ध्येय वस्तुका निरन्तर स्मरणही ध्यान है।" जब इस प्रकारकी भगवत्स्मृति उत्पन्न होती है, तब सारे बन्धनोंका नाश होता है। इस प्रकारके निरन्तर स्मरणको शास्त्रसे मोक्षका कारण बताया गया है। सतत स्मृति और ईश्वरदर्शन एकरूप है, क्योंकि —

भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः ।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे ॥

"इस परावर पुरुषका दर्शन करनेसे हृदयग्रन्थि कट जाती है, सब संशय दूर होजाते हैं और कर्मका क्षय हो जाता है।"

इस प्रकारके शास्त्रवाक्योंमें स्मृति और दर्शनका समान अर्थमें व्यवहार हुआ है, (जो समीप है उसको देख सकते हैं, लेकिन जो दूर है उसका तो केवल स्मरणही हो सकता है। परंतु शास्त्र तो सन्निहित और दूरस्थ इन दोनोंको देखनेको कहते हैं, जिससे स्मरण और दर्शन समकार्य बोधक हैं) यह स्मृति प्रगाढ़ होनेसे दर्शन स्वरूप होती है। × × × × उपासनाका अर्थ सर्वदा स्मरण है ऐसा शास्त्रोंसे मालूम पड़ता है। ज्ञान—जो निरन्तर उपासनाके साथ एकरूप है—उसको व्याख्याभी निरन्तर स्मरणरूप करनेसे आती है इसलिए जब स्मृति प्रत्यक्ष अनुभूतिका आकार धारण करती है, तब शास्त्र उसको मुक्तिका कारणरूप कहते हैं।

"नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो, न मेधया न बहुना श्रुतेन, यमेवैष
वृणुते तेन लभ्यस्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनूं स्वाम् ॥

विविध प्रकारकी विद्या, बुद्धि अथवा वेदाध्ययन द्वारा आत्माकी प्राप्ति नहीं होती। जिसको यह आत्मा वरण करता है वही इसको प्राप्त हो सकता है, और उसके पासही आत्मा अपने स्वरूपको प्रकाशित करता है। यहाँ पहले आत्मा श्रवण, मनन, और निदिध्यासन द्वारा लभ्य नहीं ऐसा कहकर, फिर आत्मा जिसको वरण करता है वही आत्माको प्राप्त हो सकता

है, ऐसा कहा है। अत्यन्त प्रियका ही 'वरण' होता है। जो आत्मापर प्रेम रखता है, उसके ऊपरही आत्मा अत्यन्त प्रेम रखता है। ऐसे प्रिय व्यक्तिको आत्मलाभ हो, इसके लिए स्वयं भगवान् उसकी मदद करते हैं, क्योंकि उन्होंनेही गीतामें कहा है किः—

तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम्।
ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते ॥

"जो भक्त मेरेमें निरन्तर आसक्त हैं, तथा सप्रेम मेरी उपासना करते हैं, उनकी बुद्धि में इसतरह करदेता हूँ, कि उसके द्वारा वे मुझे प्राप्त हो सकते हैं।"

इसलिए प्रत्यक्ष अनुभवात्मक यह स्मृति जिनको अत्यंत प्रिय है उनकोही परमात्मा वरण करता है, और वेही परमात्माको प्राप्त हो सकते हैं। इस प्रकारकी निरन्तर स्मृतिकोही भक्ति कहते हैं।

"ईश्वर प्रणिधानाद् वा" योगशास्त्रके इस सूत्रकी व्याख्या करते हुए भगवान् व्यास लिखते हैं किः—"प्रणिधान यानी भक्ति विशेष, जिससे योगीके पास इस परम पुरुषकी कृपाका आविर्भाव होता है, और उसकी सर्व प्रकारकी वासनाएँ पूर्ण हो जाती है।"

शांडिल्य ऋषिके मतके अनुसार 'सा परानुरक्तिरीश्वरे' ईश्वरमें परम अनुरक्तिका नाम भक्ति है, परतु भक्तराज प्रह्लादने भक्तिकी जो व्याख्या की है वह सर्व श्रेष्ठ मालूम पड़ती है।

या प्रीतिरविवेकानां विषयेष्वनपायिनी।
त्वामनुस्मरतः सा मे हृदयान्मापसर्पतु ॥

अज्ञानियोंको इन्द्रियोंके विषयोंमे जैसा महान प्रेम देखनेमें आता है, तुम्हारा स्मरण करते समय हे प्रभु। तुम्हारी तरफ ऐसीही तीव्र आसक्ति मेरे हृदयमें निरंतर रहे। (ऐसी मेरी प्रार्थना है।)

भक्तवर तुलसीदासजी कहते हैं किः—

कामिहि नारि पियारी जिमि, लोभिहि प्रिय जिमि दाम।
तिमि रघुवीर निरन्तर प्रिय लागहु मोहि राम ॥
(रामायण)

जिसतरह कामीजनको स्त्री प्यारी लगती है, लोभीको जिसप्रकार धन प्रिय होता है, उसीतरह हे रघुवीर रामचंद्र ! मुझे आप निरतर प्रिय लगते रहना।

—०—

२. भक्तिके विविध स्वरूप

भक्ति शास्त्रमें, ईश्वरके प्रति परम प्रेमभावको रागात्मिका, अहेतुकी या मुख्या भक्ति कहा है। राग याने इष्ट अथवा अभिलषित वस्तुमें रस-सहित परम प्रेमभाव या आविष्टता। जिसप्रकार नदियाँ सहज भावसे समुद्रकी ओर बहती हैं तथा पुष्प स्वत सुगध फैलाते हैं, उसी तरह मनके ईश्वरके प्रति सहज आकर्षणको रागात्मिका भक्ति कहते हैं। जब मन किसी प्रकारके प्रयत्न विना ईश्वरकी तरफ झुके तब रागात्मिका भक्ति हुई है, ऐसा जानना चाहिए। अहेतुकी भक्ति याने सर्व प्रकारकी वासनासे रहित भक्ति। ऐसी भक्तिमें भगवानके दर्शनके अतिरिक्त दूसरी किसी वस्तुकी इच्छा नहीं होती, यहाँतक कि मुक्तिकीभी आकांषा नहीं होती।

भगवान् श्रीद्मभागवतमें कहते हैं कि जिन भक्तोंने मुझे आत्मसमर्पण किया है, वे ब्रह्माका पद, इन्द्रपद या सार्वभौम पद अथवा पातालका आधि-पत्य किंवा योग सिद्धि या मोक्ष प्राप्त करनेकी इच्छा नहीं रखते।

यदि भवति मुकुन्दे भक्तिरानन्दसान्द्रा ।
विलुठति चरणाब्जे मोक्ष साम्राज्यलक्ष्मी ॥
(भक्तिरसामृतसिन्धु)

जिसको भगवानमें अतिशय आनन्दवाली भक्ति होती है, उस भक्तके चरणोंमे मोक्ष साम्राज्यकी लक्ष्मी, "मुझे ग्रहण करो," "मुझे ग्रहण करो,"

ऐसा कहकर आलोटती है। कहनेका अर्थ यह है, कि भक्त मुक्तिकी आकांक्षा नहीं रखता, लेकिन मुक्ति उसके पीछे-पीछे घूमती है।

इससे यह सिद्ध होता है, कि जिस भक्तिमें मोक्षकी प्राप्तिभी तुच्छ मालूम पड़ती है वही अहेतुकी भक्ति है। इस भक्तिमें कृतज्ञताका भी स्थान नहीं है। भगवान्‌ने मुझे ऐसी सुख-सामग्री दी है, इसलिए मुझे उनकी भक्ति करनी चाहिए—इस तरहके विचारोंको स्थानही नहीं है, क्योंकि अहेतुकीका मतलब किसी प्रकारके हेतु या कारण-रहित भक्ति है। इस भक्तिका मूल सूत्र 'प्रेमके लिएही प्रेम'– यह है। ईश्वर प्रिय है इसलिएही उनपर प्रेम करता हूँ—इस प्रकारकी भावना इसमें स्वाभाविक ही होती है। अहेतुक भक्त ईश्वरके सिवाय दूसरी किसी प्रकारकी वस्तुमें प्रेम नहीं रखता। मुख्या भक्तिभी इसीका ही नाम है।

भक्तिके, ऊँचे प्रकारकी और नीचे प्रकारकी—ऐसे दो भेद हैं। रागात्मिका, मुख्या और अहेतुकी—ये ऊँचे प्रकारकी भक्ति है। वैधी, हेतुकी और गौणी ये नीचे दरजेकी है। निम्न प्रकारकी भक्तिसे प्रारम्भ करके साधकगण श्रेष्ठ प्रकारकी भक्तिके अधिकारी बनते हैं। भक्ति रसामृत-सिंधुमें कहा है कि:—

वैधभक्त्याधिकारी तु भावाविर्भावनावधि।
तत्र शास्त्रं तथा तर्कमनुकूलमपेक्षते॥

जबतक भावका आविर्भाव नहीं होता तबतक वैधी भक्तिकी साधना करनी चाहिए। वैधी भक्ति, शास्त्र और अनुकूल तर्ककी अपेक्षा रखती है। भाव होनेसे राग होता है, और रागमेंसे रागात्मिका भक्तिका उदय होता है।

भक्ति शास्त्रके श्रवण मननसे तथा भगवानके संबंधमें युक्ति और तर्क करनेसे भगवान्‌के प्रति आकर्षण होता है, और इस आकर्षणमेंसे भाव उत्पन्न होता है, भावमेंसे राग और बादमें रागसे रागात्मिका भक्तिका जन्म होता है।

अब हेतुकी भक्ति संबंधी विचार कीजिए। हेतुकी भक्ति याने किसी हेतु या कारणसे भगवान्‌की भक्ति करना। भगवान्‌ने मुझे सुख-संपत्ति प्रदान की है, वे सकटमेंसे मेरा बचाव करते हैं, मेरी आशाएँ पूरी करेंगे, अमुक प्रकारसे पूजा करनेसे अमुक वस्तुओंका लाभ होगा, इसप्रकारके भावसे की हुई भक्ति हेतुकी भक्ति है। यह भक्ति निकृष्ट है, लेकिन इसमेंसे आगे बढ़ते बढ़ते अहेतुकी भक्तिकी प्राप्ति होती है। ध्रुवने पहले हेतुकी भक्तिसे ही प्रारम्भ किया था। राज्यपदकी प्राप्तिके लिये उसने भगवान्‌की आराधना शुरू की, ऐसा समझकर कि भगवान् उसकी आशा परिपूर्ण करेंगे। जैसे-जैसे साधनामें प्रगति होती गई, तैसे तैसे उसका अंतःकरण उत्तरोत्तर उच्चप्रकारके भावोंसे रंगता गया, और जब भगवान्‌के दर्शन हुए, तब तो उसकी भक्ति सम्पूर्ण अहेतुकी हो गई, और उसने ऐसी प्रार्थना की:—

स्थानाभिलाषी तपसि स्थितोऽहम्।
त्वां प्राप्तवान्देव मुनीन्द्रगुह्यम्॥
काचं विचिन्वन्नपि दिव्यरत्नम्।
स्वामिन् कृतार्थोऽस्मि वरं न याचे॥

(भक्ति सुधोदय)

"राज्यपदकी इच्छासे मैंने तप आरम्भ किया। हे प्रभु! काचका टुकड़ा ढूँढते ढूँढते जिसप्रकार दिव्य रत्न मिल जाता है, उसीप्रकार मुझे आपकी प्राप्ति हुई है। मैं कृतार्थ हो गया हूँ, अब मुझे दूसरा वरदान नहीं चाहिए।"

अमृतकी प्राप्ति होनेके पश्चात् पानी या दूधकी इच्छा कौन करे? ईश्वर साक्षात्कार होनेके बाद तुच्छ सांसारिक पदार्थोंकी चाह नहीं रहती। ऐसी स्थितिमेंसे ही प्रेमके लिए प्रेमका उदय होता है।

गुणके भेदसे भक्तिके तीन विभाग हो सकते हैं। तामसी भक्तिमेंसे राजसी भक्ति और राजसी भक्तिमेंसे सात्विकी भक्तिका जन्म होता है। यह सात्विकी भक्तिही अन्तमें मुख्या भक्तिमें परिणत हो जाती है।

तामसी, राजसी और सात्विकी ये तीनों प्रकारकी भक्ति सकाम है।

चोर देवीका पूजन करके लूटपाट करने निकलते हैं, उस भक्तिको तामसी भक्ति कहते है। राजसी भक्तिमे भक्त भगवानसे पुत्र, धन, यश आदिकी कामना करता हे, और जिस किसीने उसका अनिष्ट किया हो तो प्रभुसे अपने शत्रुका अनिष्ट होनेके लिए प्रार्थना करता हे।

सात्विकी भक्तिमे भक्त ऐहिक भोगके प्रति उदासीन होता है, लेकिन मुक्तिकी कामना तो करता हे। मुख्या भक्ति सपूर्ण निष्काम हे। इस प्रकारकी भक्तिमे मुक्तिकी इच्छा नहीं होती। ऊपर लिखी तीनो प्रकारकी भक्ति गौणी भक्ति हे। इनमेंसे धीरे-धीरे साधकको मुख्या भक्तिका लाभ होता है। इस भक्तिको कई शुद्धाभक्तिके नामसे पहचानते है।

साधारणतया साधकोंमें भक्तिका उदय नीचे दिये क्रमानुसार देखनेमे आता हे:—

(१) आर्त्त, (२) जिज्ञासु, (३) अर्थार्थी, (४) ज्ञानी।

१. संकटमेसे बचनेके लिए जो भगवान्‌की भक्ति करता हे वह आर्त्त भक्त कहलाता है।

२. तत्पश्चात् उसमें जिज्ञासाका जन्म होता है। भगवान् है या नहीं ? हैं तो वे मिल सकते हैं या नहीं ? उनको प्रार्थना करनेसे फल मिलता है या नहीं ? ऐसी-ऐसी जिज्ञासाओंका उदय होता है।

३. भगवान् हैं और वे सर्व शक्तिमान हैं, ऐसा विश्वास होनेके बाद साधारण भक्त अपने भोगके लिए उनसे बहुतसे पदार्थ मांगता है। धन, संपत्ति, मान, पुत्रादिके लिए प्रार्थना करनेवाला भक्त अर्थार्थी कहलाता है।

४. ज्ञानीकी भक्ति विना हेतुकी होती है। और उसकी भक्तिही रागात्मिका कहलाती है। अनन्य भावसे भगवान्‌की भक्ति करनेवाला ज्ञानी भक्तही सर्वश्रेष्ठ है। ऊपर कहे हुए तीनो प्रकारके भक्त निम्न श्रेणीके हैं। वे किस तरहसे श्रेष्ठ प्रकारकी भक्तिको प्राप्त करते हैं, सो भक्त ध्रुवके दृष्टांतमें बताया गया है।

भक्तिमें शान्तादि पांच भाव

अद्वैत भाव और उसमेंसे उपलब्ध निर्गुण ब्रह्मकी बातको एक तरफ रखकर विचार करें, तो देखनेमें आवेगा कि आध्यात्मिक राज्यमें भक्त और भगवान्‌का संबंध पाँच प्रकारका होता है। भक्ति शास्त्र, ये पाँचों विभाग नीचे लिखे प्रकार बताता है —

शान्त, दास्य, सख्य, वात्सल्य और मधुर। इनमेंसे प्रत्येक भावकी साध्य वस्तु ईश्वर यानी सगुण ब्रह्म है। साधकगण, ऊपर बताये हुए पाँच भावोंमेंसे एक भावका अवलंबन करके अपने इष्ट ईश्वरको प्रत्यक्ष करनेके लिये प्रयत्न करते हैं। और सर्वज्ञ, सर्वान्तर्यामी ईश्वर उनकी एकनिष्ठा तथा एकान्तिकताको देखकर अपने भक्तोंको कृतार्थ करनेके लिए उनके भावोंके अनुरूप स्वरूप धारण करके दर्शन देते हैं।

यो यो या या तनु भक्तः श्रद्धयार्चितुमिच्छति।
तस्य तस्याचला श्रद्धा तामेवविदधाम्यहम्॥
(गीता, अध्याय ७ — २१)

तथा

ये यथा मा प्रपद्यन्ते तांस्तथैवभजाम्यहम्।
मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः॥
(गीता, अध्याय ४—११)

भावमय मूर्ति धारण करके तथा मनुष्य देहमें अवतार लेकरके भक्तों की इच्छा पूर्ण करनेके अनेक दृष्टांत हमको धर्मशास्त्रोंमें तथा भक्तोंके जीवनमें मिलते हैं। नरसिंह मेहता, मीरांबाई, तुलसीदास, तुकाराम और बंगालके रामप्रसाद कमलाकान्त आदि भक्तप्रवरोंके जीवन पढ़नेसे हमको इसका प्रमाण मिलेगा।

संसारमें मनुष्य-मनुष्यके बीच जो अनेक तरहके संबंध नज़र आते हैं उनका सूक्ष्म और शुद्ध स्वरूप ऊपर बताये हुए पाँच भावोंमें हम देख पायेंगे। भक्ताचार्य भक्तकी योग्यतानुसार, इन पाँचोंमेंसे एक भावका

अवलंबन करके ईश्वरमें उसका आरोपण करनेके लिए, भक्तको उपदेश देते हैं। इस प्रकारके भावोंसे जीव भली प्रकारसे परिचित होता है, इसलिए ऐसे भावोंका अवलंबन करके ईश्वर साक्षात्कारके लिए अग्रसर होनेका मार्ग सुगम होता है।

इससे दूसरा लाभ यह होता है, कि पहले जिन वृत्तियोंका प्रबल वेग मनुष्यको संसारमें खींचकर उससे कुकर्म करवाता, उन वृत्तियोंका वेग, ईश्वरके प्रति इस प्रकारका शुद्ध संबंध बांधनेसे, मनुष्यको किसी तरहकी हानि नहीं पहुँचा सकता। केवल इतनाही नहीं, लेकिन पहले सांसारिक कार्योंमें लगी हुई वृत्ति अब मनुष्यको ईश्वर साक्षात्कारके मार्गपर अति उत्साहसे लेजाती है। काम क्रोधादिको सांसारिक विषयोंमेंसे खींचकर ईश्वरके ऊपर आरूढ़ करनेसे, इनमेंसे दुष्ट फल दूर होकर, ये प्रभु दर्शनमें सहायरूप हो जाते हैं। काम द्वारा व्रजनारियोंको तथा क्रोध द्वारा रावण, हिरण्यकश्यपु, कंस आदिको ईश्वर दर्शन हुआ था।

शांत दास्यादि पाँचों प्रकारके भावोंके साधनका मूल ईश्वरप्रेम है। इसप्रकारके प्रेम संबंधमें ईश्वरके ऐश्वर्यका भान नहीं रहता, और ईश्वर को अपना परम आत्मीय समझकर उसके पास कभी गिड़गिड़ाता है, कभी गुस्सा बताता है, और कभी कभी तो उसका तिरस्कार करनेमें भी नहीं हिचकिचाता। जैसे जैसे यह प्रेम संबंध ज्यादासे ज्यादा प्रगाढ़ होता जाता है, तैसे-तैसे भक्तकी अवस्था अधिकसे अधिक उच्च होती जाती है। इन सब भावोंमें मधुरभाव सर्वश्रेष्ठ है, लेकिन दूसरे भावोंका अवलम्बन करनेसे भी ईश्वर प्राप्ति तो होती ही है।

पांचो प्रकारके भावोंके साधनमें आगे बढ़नेसे मनुष्यको संसारका विस्मरण होता जाता है, यहाँतक कि अन्तमें तो अपनी देहका—अपने अस्तित्वका भी भान नहीं रहता। श्रीमद्‌भागवत आदि भक्ति ग्रंथोंमें व्रज गोपियोंका वर्णन करते समय इस प्रकारकी स्थितिका ही वर्णन किया है। कृष्ण प्रेममें गोपियां इतनी पागल हो गई थीं, कि अपना अस्तित्व भूलकर

कभी कभी तो वे अपनेको ही कृष्णरूप देखने लगजाती थीं। जीसस क्राइस्टके भक्तगणोंके वर्णनमें हमने ऐसा पढ़ा है, कि उसकी क्रोसपर चढ़ी हुई मूर्त्तिका चिंतन करते-करते, बहुतसे भक्तोंमें ऐसी तन्मयता आगई थी, कि जीसस क्राइस्टके क्रोससे विद्ध शरीरकी भाँति उनके शरीरमेंसे भी लोहूकी धाराऐं बहने लगी थीं। सेन्ट फ्रान्सीस ऑफ ऐसीसी और सेन्ट केथेरीन ऑफ सायेनाके जीवनवृत्तांतमें इस कथनके प्रमाण मिलेंगे।

इससे यह मालूम होगा, कि उक्त पाँचों प्रकारके भावोंकी साधनाकी पूर्णावस्थामें साधक अपने प्रेमास्पदके चिंतनमें यहाँतक तल्लीन हो जाता है, कि अन्तमें वह उसके साथ भावमें एकरूप बन जाता है।

परमहस श्रीरामकृष्णदेवके जीवन में हमको इस विषयकी पुष्टिमें जितना चाहिए उतना वर्णन मिल जाता है। जिस-जिस भावको लेकर उन्होंने साधना की उसकी सपूर्ण अवस्थामें इष्टके साथ उनकी यहाँतक तद्रूपता हो जाती थी, कि वे उसके साथ अद्वैत भावका अनुभव करते।

ऐसी शका उत्पन्न होवे कि शात दास्यादि भावोंका अवलबन करके मानव मन किसप्रकारसे सर्व भावातीत अद्वय वस्तुकी उपलब्धि कर सकता है ? क्योंकि 'द्वैत' पनके अनुभव सिवाय किसीभी भावकी उत्पत्ति स्थिति या पूर्णता नहीं हो सकती।

इस शकाके समाधानमे यह कहनेको है, कि किसीभी प्रकारका भाव जितने प्रमाणमे पुष्ट होता है उतनेही प्रमाणमें साधकके मन विरोधी भावको दूर करता है। जब वह भाव पूर्णावस्थामें पहुँचता है, तब साधकका समाहित अतःकरण, प्रथम ध्यानावस्थ दशामें अनुभव किया हुआ 'तू' (सेव्य) और 'मैं' (सेवक) इन दोनोंके बीचमें रहा हुआ दास्यादि सबंध, समय-समय पर भूल जाता है, और केवल 'तू' शब्दसे निर्दिष्ट सेव्य वस्तुमें प्रेमसे एकरूप होकर, अचल भावमें स्थित होता है।

भारतवर्षके मुख्य मुख्य आचार्य कहते हैं, कि मनुष्यका मन कदापि 'तू' और 'मैं' इन दोनोंके बीचके भाव सबधको एकसाथ अनुभव नहीं

कर सकता। एक क्षण 'मैं' का अनुभव करता है, और दूसरे क्षण 'तू' का भान होता है। इन दोनोंके बीचके भाव संबंधका इतना जल्दी अनुभव होता है, कि साधारण बुद्धिमें ऐसाही लगता है, कि एकही क्षण इन दोनोंका अनुभव हुआ। साधनाके प्रभावसे मनकी चंचलता नष्ट होनेके बादही ऊपर बताई हुई बात अच्छी तरहसे समझमें आ सकती है। ध्यानकालमें जितने प्रमाणमें साधक वृत्तिहीन होता है उतने प्रमाणमें उसकी समझमें आता जाता है, कि एक मात्र अद्वय पदार्थको ही दो दिशाओंसे दो तरीकेसे देखनेसे 'तू' और 'मैं' रूप दो पदार्थकी कल्पना होती है।

विभिन्न देशोंमें पृथक पृथक भावोंका प्राबल्य

भारतवर्षके आध्यात्मिक इतिहासमें अद्वैतभाव सहित दास्य शान्तादि पाँचों भावोंका पूर्ण प्रकाश देखनेमें आता है, परंतु अन्य देशोंके धर्म संप्रदायोंमें केवल शान्त, दास्य और पितृभावही दिखाई देता है।

यहूदी, क्रिश्चियन, और मुसलमान धर्म संप्रदायोमें, राजर्षि सोलोमनकी सख्य और मधुर भावात्मक गीतावलीका प्रचार है, किन्तु वे इन गीतोंका भाव ठीक तरह नहीं समझते और भिन्न अर्थकी कल्पना करते हैं। मुसलमान धर्मके सूफी संप्रदायमें सख्य और मधुर भावोंका प्रचार है, लेकिन उसका साधारण जन-समाज इस रूपसे ईश्वर उपासनाको कुरानसे विरुद्ध समझता है।

रोमन कैथॉलिक संप्रदायमें एक प्रकारसे जीसस क्राइस्टकी माता मेरीकी प्रतिमा द्वारा जगन्माताकी पूजा की जाती है, किन्तु वह पूजा सीधी तरह ईश्वर के जगन्मातृ भावके साथ जुड़ी हुई न होनेसे, भारतमें प्रचलित जगन्माताकी पूजाकी तरह फलप्रद नहीं होती। क्योंकि वह पूजा साधकको अखंड सच्चिदानन्दकी उपलब्धि और स्त्री मात्रमें जगन्माताका प्रकाश प्रत्यक्ष करवानेमें समर्थ नहीं होती।

शान्तादि पाँचों भावोंका विशेष विवरण

१. शान्त भक्ति :-- मनुष्य हृदयमें जबतक सच्ची प्रेमाग्नि प्रज्वलित नहीं हुई हो, और जबतक प्रेममें उन्मत्त होकर वह अपने आपका भान भूल नहीं जाता हो, तथा बाह्य क्रियाएँ और बाह्य भक्ति करनेसे कुछ प्रेम उत्पन्न हुआ हो, किन्तु जिसमें तीव्र प्रेमके लक्षण देखनेमें नहीं आते हों, तबतक उसकी भक्ति, शान्त भक्ति कहलाती है। इसमें रागादि—वृत्ति क्षीण होकर दुष्टविकारसे रहित करता है इन्द्रियोंको और साधक स्वस्थ हो जाता है।

दुनियामें बहुत कम मनुष्य ऐसे हैं, जो साधनामें शीघ्र आगे बढ़ना चाहते हैं, परन्तु अधिकतर भाग तो धीरे-धीरे आगे बढ़नेकी इच्छावाला होता है। धीर, नम्र, शांत भक्त इस दूसरी श्रेणीका होता है।

२. दास्य भाव :-- यह भाव शान्त भावसे जरा ऊँचा है। इसमें मनुष्य स्वयको ईश्वरका दास समझता है। विश्वासी नौकरकी मालिकके प्रति भक्ति उसका आदर्श स्वरूप होती है। रामदास हनुमान इसका प्रधान दृष्टान्त है।

३. सख्य भाव :--- सख्य प्रेममें साधकका भगवानके प्रति मित्र भाव होता है। मित्र जैसे मित्रके पास दिल खोलकर बात करता है, और स्वयको उसके समान समझता है, वैसेही यह साधक भगवान्को समझता है। जगत्‌रूपी खेलमें भगवान् उसका साथी है ऐसी उसकी धारणा होती है। उद्धव, सुदामा, अर्जुन इत्यादि इस भावके दृष्टान्त हैं।

४. वात्सल्य भाव :-- इस भावमें भगवान्को अपना बालक समझा जाता है। स्त्रियोंके लिए इस प्रकारके भावकी साधना बहुत सुगम है। इसका प्रधान दृष्टान्त माता यशोदा है। बालकृष्णके प्रति यशोदाके प्रेमको साधक अपना आदर्श समझते हैं। पुरुष भगवान्के पिताकी तरह इस भावकी साधना कर सकते हैं।

५. मधुरभाव :— इस भावमें प्रेमका सर्वोच्च प्रकाश होता है। मधुरभावमें भगवानको अपने पतिकी तरह चिंतन करना पड़ता है। बहुतसे वैष्णव सम्प्रदाय कहते हैं कि जगतमें एक मात्रही पुरुष है, और वह परम पुरुष है, बाकी सब प्रकृतिरूप है। स्त्री और पुरुषके बीच जो प्रेम होता है उस प्रेमको इस भावमें भगवान्से जोड़ना पड़ता है। इस भावकी साधना बहुत कठिन है। वृन्दावनकी गोपियोंका कृष्णके प्रति प्रेम, इसका प्रधान दृष्टांत है।

वात्सल्य भावकी तरह यह भाव भी स्त्रियोंके लिए सहज होता है।

इस भावके दुरुपयोगके संबंधमें यहाँ कुछ कहना अति आवश्यक है। बहुतसे धर्मढोंगी मधुर भावके साधनकी ओटमें व्यभिचार करते हैं। भगवान् श्रीकृष्णके जीवनके अन्य कार्योंके प्रति लक्ष्य किये बिना, ये ठग एकमात्र गोपियोंके साथ की हुई प्रेमलीलाकी तरफही ध्यान देते हैं। इस लीलामें मधुरता है इसमें संदेह नहीं, लेकिन यह लीला केवल शुकदेव जैसे शुद्धहृदय आजन्म ब्रह्मचारीगणही समझ सकते हैं। हम लोगोंको याद रखना चाहिए कि भागवतको कहनेवाले शुकदेव और सुननेवाले भगवान्में निमग्न चित्तवाले राजा परीक्षित थे। अशुद्ध हृदयवाले व्यक्तियोंको इस भावकी साधना नहीं करनी चाहिए। अन्य भावोंकी साधनामें सिद्ध होनेके बादही इस भावकी साधना सुगम होती है।

दूसरी बात यह याद रखनी चाहिए, कि मनुष्योंके साथ ऐसा प्रेम नहीं हो सकता। बहुतसे दुष्ट धर्माचार्य स्वयंको श्रीकृष्णका अंशावतार बताकर मधुर लीला करनेको प्रवृत्त होते हैं। उनका एक मात्र उद्देश्य धर्मके नामपर व्यभिचारही होता है। ऐसे पाखंडियों का कृष्णत्व केवल इन लीलाओंमें ही प्रकट होता है, लेकिन श्रीकृष्णके जीवनकी अन्य लीलायें उनमें देखनेमें नहीं आती। ऐसे धर्म ठगोंसे हमेशा सावधान रहना चाहिए।

—०—

३. भक्तिका विकासक्रम

भक्तिके तीन प्रकार हैं — साधन भक्ति, भाव भक्ति और प्रेम भक्ति।

१ श्रवण दर्शनादि द्वारा जिस भक्तिका लाभ होता है उसको साधन भक्ति कहते हैं। उसके द्वारा भावभक्ति तथा प्रेमभक्ति साध्य होती है। यद्यपि प्रेमभक्ति नित्यसिद्ध है, तथापि साधना बिना उसका प्रकाश दुर्लभ है।

दूसरी प्रकारसे भक्तिके वैधी और रागानुगा—ऐसे दो विभाग हो सकते हैं।

साधन भक्तिके असख्य अंग है उनमेंसे मुख्य नीचे लिखे प्रकार हैं—

(१) योग्य गुरुका आश्रय। (२) सिद्ध मत्रमें दीक्षित होना तथा मत्रसाधना सबधी गुरुके पाससे उपदेश लेना। (३) श्रद्धा तथा विश्वास सहित गुरुकी सेवा। (४) महाजनोंके बताये हुए रास्तेपर चलना। (५) सद्धर्म जिज्ञासा। (६) इष्टकी प्रसन्नताके लिए भोगादिका त्याग। (७) तीर्थोंमें निवास। (८) भक्ति लाभ होवे ऐसे कर्मोंका अनुष्ठान। (९) अवतारी पुरुषोंकी जन्म जयतिओंको मनाना तथा अन्य पर्वोंका यथाशक्ति पालन। (१०) भगवान्से विमुख जनोंके ससर्गका त्याग। (११) धार्मिक विषयमें वादानुवादका त्याग। (१२) अपने भोगके लिए मठादि निर्माण न करना। (१३) व्यवहारमें कृपणता नहीं करना। (१४) शोक, मोहके वशमें नहीं होना। (१५) अपने इष्टसे भिन्न दूसरे देवोंकी निन्दा नहीं करना। (१६) किसीभी प्राणीको जान-बूझकर कष्ट नहीं देना। (१७) अपने इष्टकी अथवा उसके भक्तोंकी निन्दा कभी नहीं सुनना।

दूसरे कितनेही साधन नीचे लिखे प्रकार हैं —

(१) देवताओं का चरणामृत लेना। (२) देवकी प्रसन्नताके लिए देवमूर्तिके समक्ष नाचना। (३) दण्डवत् नमस्कारादि करना। (४) देव मदिरको जाना। (५) मदिरकी प्रदक्षिणा करना। (६) सेवा तथा

पूजा। (७) नाम संकीर्तनादि। (८) जप तथा स्तवनादि पाठ। (९) प्रसाद लेना। (१०) श्रीमूर्तिका दर्शन–स्पर्शन। (११) शास्त्र श्रवण। (१२) भगवान्‌का स्मरण-चिंतन (१३) दास्य, सख्य, आत्म निवेदनादि भाव। (१४) प्रिय वस्तुका भगवान्‌में समर्पण। (१५) भगवान्‌के लिएही सारी क्रियाओंका अनुष्ठान। (१६) सर्व अवस्थाओंमें शरणागति। (१७) भक्तोंके साथ भगवान् संबधी चर्चा। (१८) श्रेष्ठ साधुओंका संग।

इन सब नियमोंका पालन करनेसे साधन भक्तिका उदय होता है। ये सब भक्तिमंदिरमें प्रवेश करनेके द्वार स्वरूप हैं।

रागानुगा भक्ति :— राग यानी अभलपित वस्तुमें परमप्रीति— प्रेममय तृष्णा। इस रागवाली भक्तिको रागानुगा भक्ति अथवा रागात्मिका भक्ति कहते हैं। यह दो प्रकार की हैः— (१) कामरूपा (२) संबंध-रूपा।

> कामाद् द्वेषान भयात्स्नेहाद्यथाभक्त्येश्वरे मन ।
> आवेश्य तदघं हित्वा बहवस्तद्‌गति गताः ॥
> गोप्यः कामाद् भयात्कंसो द्वेषाच्चैद्यादयोनृपाः ।
> सबन्धात् वृष्णयः स्नेहाद्यूयं भक्त्यावयं विभो ॥

'कामसे, द्वेषसे, भयसे, स्नेहसे, अथवा भक्तिसे ईश्वरमें मन जोड़नेसे बहुतसे भक्तोंके पाप नाश हुए हैं. और ये ईश्वरगतिको प्राप्त हुए हैं। हे विभो। गोपियाँ कामसे, कँस भयसे, शिशुपाल वगैरह राजालोग द्वेषसे, यदुकुल संबंधसे, आप स्नेहसे, और हम भक्तिसे ईश्वरकी गतिको प्राप्त हुए हैं।''

(१) कामरूपा :— जो भक्ति कामतृष्णाको प्रभु प्रेममें परिणत करती है, उसको कामरूपा भक्ति कहते हैं, जिसका दृष्टांत गोपियाँ हैं।

(१) सबंधरूपा :—ईश्वरमें पितृ मातृत्वादि भावारोपन को संबंधरूपा भक्ति कहते हैं।

जबतक भावका आविर्भाव नहीं होता, तबतक साधक वैधी भक्तिका अधिकारी रहता है। वैधी भक्ति शास्त्र तथा अनुकूल तर्ककी अपेक्षा रखती है। शास्त्रोंको विधिके अनुसार जो साधन करनेमें आता है उसको वैधी भक्ति कहते हैं और प्रीतिप्रयुक्त विधिके मार्गसे जो साधन-भजन किया जाता है, उसको रागात्मिका भक्ति कहते हैं। वैधी भक्तिमें श्रवण कीर्तनादि साधनके अंगोंकी जैसी आवश्यकता है वैसीही रागानुगा भक्तिमें भी उसकी उपयोगिता है।

भावभक्ति :—

शुद्धसत्वविशेषात्मा प्रेमसूर्यांशु साम्यभाक्।
रुचिभिश्चित्तमासृण्यकृदसौ भाव उच्यते ॥

"विशेष शुद्ध सत्त्वस्वरूप, प्रेमरूपी सूर्यकी किरणके समान तथा रुचि (याने भगवत् प्राप्तिकी अभिलाषा, उसकी अनुकूलताकी अभिलाषा तथा उसकी मैत्रीकी अभिलाषा) द्वारा चित्तको स्निग्ध करनेवाली जो भक्ति उत्पन्न होती है उसका नाम भाव है।"

प्रेमकी प्रथम अवस्था भाव है। उस अवस्थामें अश्रुपुलकादि सात्विक भावका थोड़ा बहुत उदय होता है। जिन साधकोंमें भावका अंकुर फूटा है, उनमें नीचे लिखेहुए अनुभावोंका प्रकाश होता है —

१. क्षान्ति :— क्षोभका कारण मिलनेपरभी चित्तमें जिसका प्रभाव नहीं पड़ता, इसीका नाम क्षान्ति है। तक्षक नागके काटनेका समय आनेपरभी राजा परीक्षितने अपने मनको भगवानमें ही लगाया हुआ रखा, और जराभी क्षोभित नहीं हुआ।

२. अव्यर्थकालता :— भक्तगण निरन्तर वाणी द्वारा स्तवन

करते हैं, मन द्वारा स्मरण करते हैं, और शरीर द्वारा नमस्कार करते हैं, तो भी मन नहीं भरता ; इसलिए अश्रुमोचन करके अपनी समस्त आयु भगवानकी सेवामेंही अर्पण करते हैं। विषयादिमें लिपटाये विना एकमात्र भगवानकी सेवामेंही रहना—इसीका नाम अव्यर्थकालता है।

३. विरक्ति :— सर्व इन्द्रियोंकी विषयोंके प्रति स्वाभाविक अरुचिको विरक्ति कहते हैं।

राजा भरत प्रभुके चरण लाभकी लालसासे यौवन कालमेंही पुत्र, स्त्री, राज्यादि दुस्त्यज विषयोंको छोड़कर चले गये। सारे भोग्य पदार्थोंके उपस्थित होतेहुएभी भरतको जो अरुचि हुई—इसीका नाम विरक्ति है।

४. मानशून्यता :— अपना उत्कर्ष होनेपर भी निरभिमानता।

राजा भगीरथ नरेन्द्रोंका शिरोमणि होनेपरभी भगवानके प्रति अनुरक्त होनेसे, अपने शत्रुओंके घरभी भिक्षा लेने गये, तथा चंडाल जैसी नीच जातिको भी नमस्कार किया।

५. आशाबंध :— भगवान जरूर मिलेंगे—ऐसी दृढ़ आशा।

६. समुत्कंठा :— इष्टलाभके लिए अति लोभ, अर्थात् प्रभु-दर्शनके लिए अति आग्रहपूर्वक राह देखना।

७. प्रभुनाममें रुचि।

८. भगवानके गुणकथनमें आसक्ति।

९. भगवानके मंदिरों तथा लीलास्थानोंमें प्रीति :—

"यहीं गोपराज नन्दका घर था, यहां श्रीकृष्णने गाड़ा तोड़ डाला था, भवबंधनको छेदनेवाले भगवानको यहां डोरीसे बांधा था," इसप्रकार कहकर मथुरावासी रोते रोते ब्रजधाममें विचरने लगे।

(पद्यावली)

ये अनुभाव नीचे लिखे रूपमें प्रकाशित होते हैं :—

(१) नृत्य (२) जमीनपर लोटना (३) गायन (४) हुंकार (५) दीर्घश्वास (६) लोग क्या कहेंगे इसके प्रति बेपरवाही (७) अट्टहास्य इत्यादि ।

प्रेमभक्ति :—

साधन भक्ति करते-करते भगवानमे रति उत्पन्न होती है, और रति गाढ़ होनेसे प्रेम कहलाती है।

मनोगति रविच्छिन्ना हरौ प्रेमपरिप्लुता।
अभिसन्धिविनिर्मुक्ता भक्ति विष्णुवशंकरी ॥

"किसीभी प्रकारके मतलब बिना तथा प्रेमसे परिपूर्ण, ऐसी ईश्वरकी ओर सतत मनकी गतिको भक्ति कहते हैं। इसप्रकारकी भक्तिसे भगवान वशमें होते हैं।"

प्रेमके उदयका क्रम निम्न प्रकार है —

(१) श्रद्धा (२) साधुसग (३) भजन (४) अनर्थ निवृत्ति (५) निष्ठा (६) रुचि (७) भगवानमें आसक्ति (८) भाव (९) प्रेम ।

इसतरह क्रमपूर्वक साधकके अतरमें प्रेमका आविर्भाव होता है। जिनके हृदयमें ऐसे प्रेमका प्रकाश होता है वे महा भाग्यवान हैं ऐसा जानना चाहिए। प्रेमकी अधिकता होनेसे कैसा अनुभव होता है, इसका थोड़ा बहुत आभास नीचेके श्लोकसे मिलेगा।

अटति यद्भवानह्नि कानन त्रुटियुगायते त्वामपश्यताम्।
कुटिलकुन्तल श्रीमुख च ते जड उदीक्षता पक्ष्मकृद्दृशाम् ॥

"दिनको जब तुम वनमे फिरते हो, तब तुम्हारा दर्शन न होनेसे हमको क्षण जितना समयभी युग जितना मालूम पड़ता है, और सायकालको फिर तुम्हारे घुँघराले केशोंवाले सुदर मुखको जब देखती हूँ, तब पलकोंके

बीचमें आजानेसे हमें तुम्हारा विरह होता है, सो नेत्रोंके ऊपर पलकें बनानेवाला ब्रह्मा सचमुचही मूर्ख है।" (तुम्हारा वियोग क्षणमात्रभी सहन नहीं होता है।)

प्रेमभक्तिमें सात्विक भाव

सत्वगुणमेंसे उत्पन्नहुए भाव सात्विक कहलाते हैं। ये आठ प्रकारके हैं :—

स्तंभ, स्वेद, रोमांच, स्वरभेद, कंप, वैवर्ण्य, अश्रु और प्रलय।

१. स्तंभ भाव :—हर्ष, भय, आश्चर्य, खेद और क्रोधसे स्तंभ भाव उत्पन्न होता है। स्तंभ भावसे वाणी रुंध जाती है, अंग जड़ बन जाते हैं, और सारा शरीर शून्य हो गया है—ऐसा मालूम होता है।

२. स्वेदभाव : — हर्ष, भय, क्रोधादिसे शरीरमेंसे पसीना निकलता है, सो स्वेदभाव है।

३. रोमांचभाव :— अद्‌भुत दर्शन तथा हर्ष, उत्साह और भयसे रोमांच होता है।

४. स्वरभेद :— विषाद, विस्मय, क्रोध, आनन्द और भयसे स्वर गद्‌गद्‌ हो जाता है।

५. कंप :— त्रास, क्रोध, हर्ष द्वारा गात्रमें कंप होता है।

६. वैवर्ण्य :— विषाद, क्रोध और भयसे वर्णका विकार हो जाता है। पीलास, कालास, क्षीणता इत्यादि विकार उत्पन्न होते हैं।

७. अश्रु :— हर्ष, क्रोध और विषादको लेकर विना प्रयत्न आँखोंमेंसे पानी निकलता है, उसको अश्रु कहते हैं। हर्षके आँसुओंमें शीतलता होती है, और क्रोधके आँसुओंमें उष्णता। सर्वप्रकारके अश्रुओंमें आँखोंका क्षोभ, चंचलता, श्वास इत्यादि समान होते हैं।

८. प्रलय :— सुख या दुःखके कारण ज्ञानशून्य होने को प्रलय कहते हैं। इस स्थितिमें बेहोश होकर जमीनपर गिर जाता है।

सत्त्वके भेदके प्रमाणसे प्राण और देहमें क्षोभका भी भेद होता है, जिससे सात्त्विक भावमें भी भेद हो जाता है।

मुख्य चार भेद नीचे लिखे प्रकार हैं —

(१) धूमायित (२) ज्वलित। (३) दीप्त (४) उद्दीप्त। इनमें क्रमानुसार उत्तरोत्तर श्रेष्ठता है।

१. धूमायित :— जो भाव अपने आप अथवा दूसरे भावोंके साथ जुड़करके थोड़ा बहुत प्रकाश देता है, और जिस भावको साधक आसानीसे छुपा सकता है उसको धूमायित कहते हैं।

उदाहरण :—

भगवान हरिकी पापनाशिनी कीर्त्ति सुनते समय यज्ञकर्त्ता पुरोहित गर्गाचार्यकी आँ[illegible] एक दो आँसू आगये, मुँहपर थोड़ा पसीना

उदाहरण :— भगवानको सन्मुख देखकर नारदमुनि ऐसे विवश हो गए, कि शरीरमें कंप हुआ जिससे वीणा बजानेमें अशक्त हो गए, स्वर गद् गद हो जानेसे स्तुतिपाठ नहीं कर सके, आँखमें आंसू भर आनेसे दर्शन करनेमेंभी असमर्थ रहे।

४. उद्दीप्त :— एकही समय पांच, छः अथवा सब भावोंकी अति प्रबलता उत्पन्न हो, तो उसको उद्दीप्त भाव कहते हैं।

उदाहरण :— हे पीताम्बर ! तुम्हारे विरहके कारण गोकुलवासियोंके स्वेदयुक्त कम्पित, पुलकितांग स्तब्ध और व्याकुल चित्त विलाप करते; और अंतरके उत्तापसे म्लान हुए, एवं आंखोके जलसे तरातर हुए अबभी अत्यंत मोहग्रस्त दशामें हैं।

यह उद्दीप्त सात्विक भाव महाभावमें परिणत होता है।

रति और भाव :—

स्वच्छा अथवा शुद्धा रति :—

जिस समय जिसप्रकारकी रतिमें उत्तम साधककी आसक्ति होती है, उस समय स्फटिक मणिकी तरह उसका चित्त वही भाव धारण करता है, इसलिए इसप्रकारकी रतिका नाम स्वच्छा है।

दृष्टान्त :— एक श्रेष्ठ ब्राह्मण कभी भगवानको प्रभु जानकर उनकी स्तुति करता, कभी मित्र जानकर मजाक करता, कभी पुत्र मानकर उनकी रचा करनेको तैयार होता, कभी अपना प्रियतम समझकर प्रेमसे आनन्दमय हो जाता, और कभी तो परमात्मा मानकर भगवानके ध्यान तथा चिंतनमें लीन होता। इसप्रकार विविध प्रकारकी सेवा द्वारा विविध प्रकारकी मानसिक वृत्तियाँ प्रकट किया करता था।

केवला और संकुला — इस तरह रतिके दो प्रकार हैं।

८. प्रलय :— सुख वा दुःखके कारण ज्ञानशून्य होने को प्रलय कहते हैं। इस स्थितिमें बेहोश होकर जमीनपर गिर जाता है।

सत्वके भेदके प्रमाणसे प्राण और देहमें क्षोभका भी भेद होता है, जिससे सात्विक भावमें भी भेद हो जाता है।

मुख्य चार भेद नीचे लिखे प्रकार हैं —

(१) धूमायित (२) ज्वलित। (३) दीप्त (४) उद्‌दीप्त। इनमें क्रमानुसार उत्तरोत्तर श्रेष्ठता है।

१. धूमायित :— जो भाव अपने आप अथवा दूसरे भावोंके साथ जुड़करके थोड़ा बहुत प्रकाश देता है, और जिस भावको साधक आसानीसे छुपा सकता है उसको धूमायित कहते हैं।

उदाहरण :—

भगवान हरिकी पापनाशिनी कीर्त्ति सुनते समय यज्ञकर्त्ता पुरोहित गर्गाचार्यकी आँखके कोनेमें एक दो आँसू आगये, मुँहपर थोड़ा पसीना हुआ और गालपर सहज लाली आई।

२. ज्वलित :— दो या तीन सात्विक भावोंका एकसाथ उदय हो लेकिन वे इतने प्रमाणमें कि साधक बहुत मुश्किलसे उन भावोंको दूसरोंसे छुपा सके, उसको ज्वलित भाव कहते हैं।

उदाहरण :—राधिका कहती है —

हे सखि! गिरिकी गुफाओंमें वंशीकी आवाज सुनकर मैं बहुत मुश्किल-से आँसू रोक सकी। लज्जा उत्पन्न होनेसे मेरी गलगली आवाजको भी रोका, लेकिन शरीरका रोमाच रोक नहीं सकी, जिससे मेरी सखियाँ मेरा कृष्णप्रेम ताड़ गईं।

३. दीप्त :— तीन, चार, अथवा पाच भाव एकही समय प्रबल होनेसे जो साधकसे छुपाये न जा सकें उनको दीप्त कहते हैं।

उदाहरण :— भगवानको सन्मुख देखकर नारदमुनि ऐसे विवश हो गए, कि शरीरमें कंप हुआ जिससे वीणा बजानेमें अशक्त हो गए, स्वर गद् गद हो जानेसे स्तुतिपाठ नहीं कर सके, आँखमें आँसू भर आनेसे दर्शन करनेमेंभी असमर्थ रहे।

४. उद्दीप्त :— एकही समय पांच, छः अथवा सब भावोंकी अति प्रबलता उत्पन्न हो, तो उसको उद्दीप्त भाव कहते हैं।

उदाहरण :— हे पीताम्बर ! तुम्हारे विरहके कारण गोकुलवासियोंके स्वेदयुक्त कम्पित, पुलकितांग स्तब्ध और व्याकुल चित्त विलाप करते ; और अंतरके उत्तापसे म्लान हुए, एवं आंखोंके जलसे तरातर हुए अबभी अत्यंत मोहग्रस्त दशामें हैं।

यह उद्दीप्त सात्विक भाव महाभावमें परिणत होता है।

रति और भाव :—

स्वच्छा अथवा शुद्धा रति :—

जिस समय जिसप्रकारकी रतिमें उत्तम साधकको आसक्ति होती है, उस समय स्फटिक मणिकी तरह उसका चित्त वही भाव धारण करता है, इसलिए इसप्रकारकी रतिका नाम स्वच्छा है।

दृष्टान्त :— एक श्रेष्ठ ब्राह्मण कभी भगवानको प्रभु जानकर उनकी स्तुति करता, कभी मित्र जानकर मजाक करता, कभी पुत्र मानकर उनकी रक्षा करनेको तैयार होता, कभी अपना प्रियतम समझकर प्रेमसे आनन्दमय हो जाता, और कभी तो परमात्मा मानकर भगवानके ध्यान तथा चिन्तनमें लीन होता। इसप्रकार विविध प्रकारकी सेवा द्वारा विविध प्रकारको मानसिक वृत्तियाँ प्रकट किया करता था।

केवला और संकुला — इस तरह रतिके दो प्रकार हैं।

१. केवला :— जिन रतिओंमें दूसरी रतिओंका मिश्रण नहीं है, उसको केवला रति कहते हैं। श्रीदाम आदि सखाओंकी तथा नन्दकी रति इस प्रकारकी थी।

२. संकुला :— जिसमें दो अथवा तीनप्रकारकी रतिओंका मिश्रण होता है, उसको सकुला कहते हैं। उद्धव, भीम आदिकी रति इस तरहकी थी।

रति और रस :—

रतिकी तरह रसके भी मुख्य और गौण ऐसे दो विभाग हैं। रतिही अपनी उच्चावस्थामें रसरूप होती है और रस अपनी सर्वोच्च अवस्थामें प्रेमरूप होता है।

कोई तो रसोत्पत्ति क्रम इसप्रकार बताते हैं—प्रीति—अनुराग—प्रेम—रस। परमेश्वर स्वय रस-स्वरूप हैं।

मुख्य भक्तिरस पांच प्रकारका है — शान्त, प्रीत, प्रेय, वात्सल्य, मधुर। ये रस क्रमानुसार उत्तरोत्तर ज्यादा ऊँचे हैं।

हास्य, अद्भुत, वीर, करुण, रौद्र, भयानक तथा वीभत्स इस प्रकार गौण रस सात प्रकारका है।

—०—

४. पराभक्ति और त्याग

सब साधनोंका उद्देश्य आत्मशुद्धि है। नाम सकीर्तन तथा जप, प्रतीक और प्रतिमाकी उपासना, तथा साधन मार्गमें जो दूसरे अनुष्ठान करनेमें आते हैं, उन सबका लक्ष्य एकमात्र आत्मशुद्धि है। शुद्धि करनेवाले सब साधनोंमें त्यागही सर्वश्रेष्ठ है। त्याग बिना पराभक्तिके राज्यमें प्रवेश करना असभव है। त्यागका नाम सुनकर बहुतसे मनुष्य घबरा जाते हैं, लेकिन

उनको आध्यात्मिक उन्नतिकी इच्छाभी होती है। ऐसे लोगोंको समझ लेना चाहिए, कि त्यागके विना आध्यात्मिक उन्नतिकी आशा रखना व्यर्थ है। श्रुतिमें कहा है कि "त्यागेनैकेनामृतत्वमानशुः॥" बाइबिलमें जीसस क्राइस्टने कहा है कि :—

"If any man will come after me, let him deny himself and take up his cross and follow me."

"जो कोई मेरा अनुसरण करना चाहता है, स्वार्थ त्यागकर और वैराग्यरूपी क्रोस धारण करके उसको मेरे पीछे चलना चाहिए।"

एकमात्र त्याग द्वाराही यह अमृतत्व प्राप्त होता है। यथार्थ धर्मलाभकी यह पहली सीढी है। त्याग बुद्धिके सिवाय मानव—जडदेह तथा दूसरे जड़ पदार्थोंके आकर्षणमेंसे स्वयंको अलग नहीं कर सकता। त्यागसे ही सच्ची आध्यात्मिक उन्नति होती है। कर्मयोगी सर्व कर्मोंके फलका त्याग करता है, यानी कि जो कर्म वह करता है उसके फलमें आसक्त नहीं होता।

त्यक्त्वा कर्मफलासंग नित्यतृप्तो निराश्रयः
कर्मण्यभि प्रवृत्तोऽपि नैव किंचित्करोति सः॥
(गीता, अध्याय ४—२०)

ऐहिक और पारत्रिक किसी प्रकारके लाभकी तरफ उसकी दृष्टि नहीं रहती, परन्तु निरुद्यमी भी नहीं होता—कारण श्रीभगवान कहते हैं कि :—

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।
मा कर्म फलहेतुर्भूर्मा ते सगोऽस्त्व कर्मणि॥

यह त्याग कर्मयोगियोंका मूलमंत्र स्वरूप है। राजयोगी समझता है, कि समस्त प्रकृति—पुरुषको याने आत्माको विचित्र सुखदुःखानुभूति करानेके लिएही है; और सारे अनुभवोंके फलस्वरूप पुरुषको प्रकृतिसे नित्य स्वतंत्र होनेका बोध होना चाहिए। जीवात्माको जानना चाहिए, कि वह अनन्त-

कालसे आत्मस्वरूपही है और भूतोंके साथका उसका संबध थोड़े समयके लिएही है। इस सुख-दुःखके भोगके प्रतिही राजयोगी त्यागका उपदेश देता है।

ज्ञानयोगियोंका वैराग्य बहुत कठिन है, क्योंकि उनको तो पहलेसे ही इस सत्यवत् प्रतीयमान प्रकृतिको मिथ्या माननी पड़ती है। उनको समझ लेना पड़ता है, कि प्रकृतिमें जितने प्रकारकी शक्तियोंका प्रकाश देखनेमें आता है, यह सब आत्माकी शक्ति है, प्रकृतिकी नहीं, तथा आत्मामें ही सबप्रकारका ज्ञान रहता है, प्रकृतिमें नहीं। उनको विचारमेंसे उत्पन्न हुई धारणाके बलसे ही समस्त प्रकृतिके बधनोंको छेदन करना पड़ता है, प्रकृतिके किसीभी पदार्थके प्रति वे लक्ष्य नहीं रखते, उनकी दृष्टिके समक्ष ये सब अदृश्य होजाते हैं, और वे कैवल्य पदमें अवस्थित होनेका प्रयत्न करते हैं।

सब प्रकारके वैराग्योंमें भक्तियोगियोंका वैराग्य स्वाभाविक है, इसमें किसी प्रकारकी कठोरता नहीं है, और जबरदस्तीसे कुछ त्यागनेकी आवश्यकता नहीं रहती। भक्तका मन जब भजनमें लगता है, तब अपने आपही इन्द्रियोंकी भोगवासना उसको छोड़कर चली जाती है। इससमय उसकी बुद्धिवृत्तिकी उन्नति होती है, और वह सूक्ष्म विषयोंमें सुखानुभव करने लगता है। जब उसका मन आध्यात्मिकताकी उच्चतर भूमिमें आरोहण करता है, तब उसको निम्नतर भूमिके विषयोंका ख्याल जराभी नहीं रहता।

इससे मालूम पड़ेगा, कि भक्तिमार्गका वैराग्य किसी वस्तुका नाश करके उत्पन्न नहीं होता। धीरे धीरे बढ़तेहुए प्रकाशकी तरह भक्तोंका वैराग्य बढ़ता जाता है, साथही जैसे अँधेरा अधिक उजालेमे नहीं रह सकता, वैसेही भगवत् प्रेममें उन्मत्त भक्तोंकी, इन्द्रियवृत्ति तथा बुद्धिवृत्तिको परिचालना से उत्पन्न हुआ करती है जो सुखभोगकी इच्छा, अपने आपही उससे दूर चली जाती है। ऐसा ईश्वर प्रेम बढ़ते-बढ़ते पराभक्तिमें परिणत होजाता है। ऐसे प्रभु प्रेमियोको फिर किसीप्रकारके अनुष्ठान करनेकी आवश्यकता

नहीं रहती, उनके लिए शास्त्रोंका प्रयोजन नहीं रहता ; प्रतिमा, मंदिर, भजनालय, पृथक २ संम्प्रदाय, देश, जाति—ये सब क्षुद्र सीमाबद्ध भाव और बंधन अपने आप टूट जाते हैं, कोई उनको बंधनमें नहीं रख सकता, कोई उनकी स्वतंत्रता नष्ट नहीं कर सकता।

—०—

५. भक्तोंका वैराग्य प्रेममेंसे उत्पन्न होता है

प्रकृतिमें सर्वत्र प्रेमका विकास देखनेमें आता है। समाजमें जो कुछ सुन्दर या महत् है, वह सब प्रेममेंसे ही उत्पन्न हुआ है। इसके साथ यहभी समझ लेना चाहिए, कि मन्द तथा पैशाचिक भाव भी उसी प्रेमके विकृत स्वरूप मात्र है। पति-पत्नीका विशुद्ध दाम्पत्य प्रेम तथा अति नीच कामवृत्ति, ये भी एकही प्रेमके भिन्न विकास मात्र है। भाव एकही है, किन्तु अवस्था तथा प्रयोगके भेदसे रूप विभिन्न होजाता है। एकही प्रेमकी प्रेरणासे कोई दरिद्रको अपना सर्वस्व अर्पण करता है, और कोई अपने सगे भाईकासर्वस्व हर लेनेको उसकी गर्दनपर छुरी चलाता है। पहिले दृष्टांतमे प्रेम उत्तम विषयमें प्रयुक्त हुआ है, तो दूसरे दृष्टातमें उसकी प्रेरणा मंद दिशामें हुई है। जो अग्नि हमारा भोजन पकानेमें सहायता करती है, वही अग्नि निर्दोष बालककोभी जला देती है। उसमें अग्निका दोष नहीं, व्यवहारकी रीतिसे फलमें फ़रक़ पड़ता है।

भक्तियोग प्रेमके श्रेष्ठ विकासका विज्ञान (Science) स्वरूप है। प्रेमको यथार्थ मार्गपर चलानेके लिए—उसको अपने कब्जेमें लानेके लिए—उसका सद्व्यवहार करनेके लिए—और उसके द्वारा श्रेष्ठतम फल स्वरूप जीवनमुक्ति प्राप्तकरनेके लिए भक्तियोग उपाय बताता है। भक्तियोग किसीभी प्रकारके पदार्थका त्याग करनेके लिए कहे बिना मात्र इतनाही कहता है, कि "उस परमपुरुषमें चित्त रक्खो"। और यह तो स्वाभाविकही

है, कि जो परमपुरुषके प्रेममें मस्त बनता है, उसमें हीन वासना रहही नहीं सकती। ऐसा होनेसे भक्तके लिए त्याग सहज साध्य होता है।

भक्तियोग कहता है कि —"हे मानव! सुन्दर वस्तुकी तरफ तू सहजही आकृष्ट होता है, भगवान परम सुन्दर हैं, इसलिए तू उनको अंतःकरण पूर्वक चाहना सीख।"

मनुष्यके मुँहपर, आकाशमें, चद्रतारकमें जो सौन्दर्यका विकास देखनेमें आता है, वह कहांसे आया? ये सब सौन्दर्यस्वरूप भगवानके प्रकाशसे प्रकाशित हैं। "तस्य भासा सर्वमिद विभाति।" भक्तिकी इस उच्च भूमिकामें जो पहुँचते हैं, उनका क्षुद्र अहभाव सपूर्ण नष्ट हो जाता है, उनकी सर्व आसक्ति चली जाती है और वे साक्षी स्वरूप बनकर प्रकृतिका सारा व्यापार देखते हैं। चाहे कितनेही द्वद्व या सघर्ष आ पड़ें लेकिन अपनेको तो साक्षीस्वरूप होकर देखना चाहिए। जो हम ससारके प्रवाहमें पड़े रहे, तो ये सब धक्केभी अपनेको सहन करनेही पड़ेंगे, परतु इस प्रवाहमेंसे बाहर निकल तटस्थ रहेंगे, तो प्रेमस्वरूप भगवानके अनन्त प्रकाशकी लीला अपने देखनेमें आवेगी।

सस्कृतमें भगवानका एक नाम 'हरि' है। उसका अर्थ यह है कि जो सबको अपनी ओर खींचता हे। हम विषयोंकी तरफ खिंचे जाते हैं, सो उनमें ऐसा क्या है, कि जो हमको अपनी तरफ खींचता है? प्राणहीन जड़ वस्तु चैतन्यमय आत्माको खींचही नही सकती। मनुष्यका सुन्दर मुँह जड़ परमाणुओंसे सगठित है, उसके ऊपर दूसरे मोहित कैसे हो जाते हैं? जड़ परमाणुओंमें इतना सामर्थ्य हो ही नहीं सकता। उन सबके पीछे कोई ईश्वरी शक्ति, कोई ईश्वरी प्रेमकी लीला, अवश्य विद्यमान है। अज्ञ पुरुष यह नहीं जानते, परतु वे जानें या न जानें, पर उसके द्वारा वे आकृष्ट होते हैं। इससे समझ सकते हैं कि उच्चसे-उच्च, और नीचसे-नीच भावभी ईश्वरी प्रभावकी किरणें मात्र हैं। बृहदारण्यक उपनिषद्में कहा है कि.—

न वा अरे पत्युः कामाय पतिः प्रियो ।
भवत्यात्मनस्तु कामाय पतिः प्रियो भवति ॥

"हे प्रियतमे । पतिके लिएही पतिको कोई प्रेम नहीं करता, पतिके अंतरस्थ आत्माके लिएही पति प्रिय लगता है ।" इसीप्रकारही पुत्र, पत्नी इत्यादिकी प्रीतिके संबंधमें समझ लेना चाहिए । भगवान मोटे लोह चुम्बक की तरह हैं और सारे जीव लोहेके टुकडोंके समान हैं । सदा सर्वदा ये जीव इस चुम्बकके द्वारा खींचे जाते हैं । जीवोंकी सर्वप्रकारकी चेष्टायें इस आकर्षणके फलरूप है । न जानते हुए सर्व उनकी तरफही गति कर रहे हैं, अन्तमें एकदिन जरूर वहां पहुँच जायँगे और उनमे चिपट जायँगे । यानी कि जीव परमात्माके स्वरूपमें मिल जायँगे ।

भक्त इस जीवन सग्रामका अर्थ पहलेसेही समझता है, इसकारणसे सर्व आकर्षणके मूलकारण स्वरूप श्रीहरिके पास सत्वर जानेकी इच्छा करता है । इस आकर्षणका अनुभव भक्तोंके चित्तको दूसरे आकर्षणोंमेंसे (विषया-सक्तिमेंसे) मुक्तकर देता है । उनका हृदय भगवत् प्रेमसे ओतप्रोत हो जाता है, फिर क्षुद्र विषय-प्रेमको वहां कहासे स्थान मिले ? यह स्थिति प्राप्त होनेके बाद भक्त किसी प्रकारका भेद नहीं देखता । मनुष्यको वह मनुष्यरूपसे नहीं देखता, लेकिन उसके अन्दर अपने प्रियतमको देखता है; जिसकी तरफभी वह देखता है उसमें उसके प्रभुकाही प्रकाश दिखाई देता है । जगत्के अन्दर ऐसे भक्त थोडे बहुत हमेशाही होते हैं । ऐसे भक्तोंके हृदयमें क्रोध, घृणा, ईर्ष्या आदिका भाव जराभी नहीं रहता, क्योंकि ये तो सर्वत्र प्रेममय प्रभुकेही दर्शन करते हे ; प्रेममें ऐसी हीन वृत्तियोंको स्थानही कैसे मिले ?

—०—

६. भक्तियोगकी स्वाभाविकता

अर्जुनने श्रीकृष्ण भगवानसे पूछा कि :—

एव सततयुक्ता ये भक्तास्त्वा पर्युपासते ।
ये चाप्यक्षरमव्यक्तं तेषा के योगवित्तमाः ॥

"जो सर्वदा अवहित चित्तसे तुम्हारी उपासना करते हैं, और जो अव्यक्त निर्गुणके उपासक हैं, इन दोनोंमें श्रेष्ठ योगी कौन है ?"

इसके उत्तरमें श्रीभगवान कहते हैं कि —

मय्यावेश्य मनो ये मा नित्ययुक्ता उपासते ।
श्रद्धया परयोपेतास्ते मे युक्ततमा मताः ॥ इत्यादि
(गीता १२ अध्याय)

"जो लोग मेरेमें मन लगाकर एकरस हो श्रद्धापूर्वक मेरी उपासना करते हैं वे मेरे श्रेष्ठ उपासक हैं । और वे ही श्रेष्ठ योगी हैं ।"

"जो लोग इन्द्रिय संयमपूर्वक सर्वत्र समबुद्धि होकर निर्गुण, अनिर्देश्य, अव्यक्त, सर्वव्यापी, अचिन्त्य, निर्विकार, अचल, नित्य स्वरूपकी उपासना करते हैं, वे लोगभी सर्वभूतोंके हितमें नियुक्त होनेसे मुझेही प्राप्त होते हैं । उन लोगोंका चित्त अव्यक्तमें आसक्त होनेसे उनको अधिक कष्ट पड़ता है, क्योंकि देहाभिमानी व्यक्ति बहुत मुश्किलसे अव्यक्तको पहुँच सकते हैं । लेकिन जो लोग सारे कार्य मुझे समर्पण करके दृढ़चित्त होकर मेरा ध्यान धरते हैं, तथा मेरी उपासना करते हैं, उनका मैं सत्वर जन्म-मृत्युरूपी सागरसे उद्धार करता हूँ, क्योंकि उनका मन सदा मेरेमेंही आसक्त है ।"

यहां ज्ञानयोग तथा भक्तियोग दोनोंको लक्ष्य करके कहा है । ज्ञानयोग अवश्य श्रेष्ठमार्ग है, परंतु उसकी साधना बहुतही कठिन है । भक्तियोग साधारण बुद्धिवाले मनुष्योंके लिए सहज और सुखसाध्य है, क्योंकि इसमें मनुष्यकी सर्व प्रवृत्तियोंका ईश्वरप्राप्तिके लिए आसानीसे

उपयोग हो सकता है, जहां ज्ञानमार्गमें इन सब प्रवृत्तियोंको रोकना पड़ता है। गोपियोंने अपनी प्रवृत्तियोंका इसीप्रकार भक्तिलाभके लिए उपयोग किया था।

तच्चिन्ताविपुलाह्लाद क्षीणपुण्यचया तथा।
तदप्राप्तिमहद् दुःखविलीनाशेषपातका॥
चिन्तयन्तीजगत्सूतिं परब्रह्म स्वरूपिणम्।
निरुच्छ्वासतया मुक्तिं गतान्यागोपकन्यका॥ (विष्णु पुराण)

"भगवानके चिन्तन करनेसे उत्पन्न हुए परम आल्हादसे उनके पुण्य-कर्मोंके बंधन क्षीण होगये और ईश्वरकी अप्राप्तिसे उत्पन्न हुए महादुःखसे उनके सब पाप नष्ट हो गए। जगत्के कारणरूप परब्रह्मस्वरूपका तन्मय होकर (तन्मय होनेसे श्वास चलता है या नहिं इसकी खबर नहीं पड़ती) चिन्तन करनेसे उन गोपकन्याओंको मुक्ति प्राप्त हुई।"

भक्तियोगका रहस्य यह है, कि मनुष्य हृदयमें जितने प्रकारकी वासना या भाव हैं उनमेंसे एकभी स्वरूपतः खराब नहीं है। उनको धीरे-धीरे अपने वशमें लाकर किसी उच्च आदर्शकी ओर गति फिरानेसे परम उत्कर्ष होता है। भगवानही सर्वश्रेष्ठ गतिस्वरूप है, यह बात समझकर जो भक्त विषयादि सुखदु.खसे अलिप्त रहकर मात्र भगवानकीही अप्राप्तिसे दु ख, और उसकेही लाभसे सुख अनुभव करता है, तो उसको परमशान्तिका लाभ होता है इसमें कोई आश्चर्य नहीं। इससे समझ पड़ेगा, कि मनुष्य मात्रके लिए भक्तिमार्ग स्वाभाविक और सरल है।

—०—

७. सार्वजनिक प्रेम

समष्टिके प्रति सच्चा प्रेम होनेसे, व्यष्टिके प्रतिभी सच्चा प्रेम होता है। ईश्वर समष्टि है, और जगत् व्यष्टि है। सर्वव्यापी अखंड समष्टिके

अन्दर छोटे छोटे खंड जगत् विद्यमान हैं, इससे समष्टिके प्रति प्रेम होनेसे जगत्के प्रतिभी अवश्य प्रेम होता है। व्यष्टिमेंसे समष्टिमें तथा विशेषमेंसे साधारण तत्त्वमें जाना, यह भारतवर्षके दर्शनशास्त्रों तथा धर्मोंका खास लक्षण है। इससे जिसको जाननेसे सब ज्ञान हो जाता है, उस समष्टिभूत, एक, निरपेक्ष, सर्वभूतमध्यस्थित, परमपुरुषको पहचाननाही ज्ञानीका लक्ष्य होता है। जिसपर प्रेम करनेसे चराचर विश्वब्रह्मांडकी ओर प्रेमभाव उत्पन्न होता है, उस सर्वगत पुरुषका साक्षात्कार करनेके लिए भक्त प्रयत्न करता है। और जिसके ऊपर जय प्राप्त करनेसे सारे जगत्पर जय प्राप्त होती है, उस मूल शक्तिको जीतनेकी योगी इच्छा रखता है। भारतवासियोंकी मनोगतिका इतिहास देखनेसे मालूम पड़ेगा, कि जड़विज्ञान, मनोविज्ञान, भक्तितत्त्व दर्शन इन सब विभागोंमें 'बहुत'' मेंसे 'एक'' सर्वगत तत्त्वका अनुसंधानही उनका एकमात्र ध्येय है। यह परिदृश्यमान जगत् समष्टि स्वरूप भगवानकी अभिव्यक्ति है, ऐसा बोध होनेसे भक्तके हृदयमें प्रभुसेवाके भावसे जगत्का हित साधन करनेकी प्रेरणा सहजही जागती है। यह हितसाधनकी शक्ति प्रभुप्रेम द्वाराही प्राप्त हो सकती है।

और भक्त कहता है, कि सब कुछ उसकाही— ईश्वरकाही है, जो मेरा प्रियतम है। भक्तको सारी वस्तुएं पवित्र और सुन्दर मालूम पड़ती हैं, क्योंकि ये सब वस्तुएं उसके प्रियतमकी हैं। ऐसी अवस्था प्राप्त होनेके पश्चात् भक्तके अन्दरसे द्वेष तथा हिंसा-बुद्धि चली जाती है। भक्तकी उच्चदृष्टि होनेके बाद मनुष्य मनुष्य नहीं रहता, पर भगवान स्वरूप हो जाता है, और दूसरे प्राणियोंके प्रतिभी ईश्वरबुद्धि हो जाती है। ऐसी अवस्थामें भक्तको सर्प काट खावे तो भी उसको तो ऐसाही बोध होता है, कि यह सर्प मेरे प्रियतमकी तरफसे सदेशा लेकर आया है।

एवं सर्वेषु भूतेषु भक्तिरव्यभिचारिणी।
कर्तव्या पंडितैर्ज्ञात्वा सर्वभूतमयंहरिम्॥

"हरि सर्वभूतोंमें अवस्थित है ऐसा समझकर पंडितजनोंको सबके प्रति

निष्काम भक्तिका आचरण करना चाहिए।"

ऐसे प्रगाढ़ सर्वग्राही प्रेमका फल पूर्ण आत्मसमर्पण है। इस दशामें यह दृढ़ विश्वास होता है, कि संसारमें अच्छा बुरा जो कुछ होता है वह अनिष्टके लिए नहीं होता, लेकिन भगवानकी इच्छासे कल्याणके लिएही होता है। इस स्थितिकोही शास्त्रमें 'अप्रातिकूल्य' कहा है।

अधिकांश मनुष्य देहसुखकोही अपना सर्वस्व समझते हैं, क्योंकि इन्द्रियसुखलालसारूपी असुर सबमें घुस गया है। जो लम्बी-लम्बी बातें मारते हैं, उनकी अवस्थाभी ज्यादा अच्छी नहीं है। श्रीरामकृष्ण परमहँस कहते थे, कि (विषयी) पंडितलोग गिद्धोंकी तरह बहुत ऊँचे उड़ते हैं, लेकिन उनकी नज़रतो मुर्दों (इन्द्रियसुखभोग) परही होती है। जबतक मनुष्य स्वार्थ त्याग करनेके लिए अंतःकरणपूर्वक तैयार नहीं होता, तबतक वह सच्चा भक्त नहीं हो सकता। साधु व्यक्ति दूसरोंकी सेवामें धन, प्राण इत्यादि सबका उत्सर्ग करनेको तैयार रहता है। वह जानता है, कि जगत् अनित्य है, और जो शरीरके लिए सब भोग-सामग्री इकट्ठी की जाती है जिससे अंतरमें इतनी ज्यादा स्वार्थपरता पैदा होती है, सब क्षणभंगुर है। सांसारिक वस्तु कोईभी चिरकाल रहने वाली नहीं, तो फिर किन्हीं मंद कार्योंमें शरीर तथा धनादिका उपयोग न करके, शुभ प्रवृत्तियोंमें उनका योग किया जाय, तो यह अति कल्याणकर है। जीवनका सर्वप्रधान कार्य सर्व प्राणियोंकी सेवाही होना चाहिए। जो ऐसा करता है वही श्रेष्ठ है। इसीलिए भक्त कहते हैं कि, 'अपनेको जगत्के सर्व पदार्थोंके संबंधमें मृतवत् समझना चाहिए।" इसप्रकार जो रह सकते हैं, वेही ठीक तरहसे आत्मसमर्पण कर सकते है, और वेही भगवानकी सच्ची शरण ले सकते हैं। "Let Thy will be done" "प्रभु! तेरी इच्छाही पूर्ण हो।" जीसस क्राइस्टके इस वाक्यका अर्थ पूर्णतया आत्मसमर्पण अथवा शरणागति है।

प्रकृत भक्त अपने लिए कोईभी इच्छा नहीं रखता, वह कोई कार्य

नहीं करता, वह तो दीनभावसे यही प्रार्थना किया करता है कि, "प्रभु! लोग तुम्हारी प्रदान की हुई सांसारिक वस्तुओंको अपनी मानते हैं, और इससे अहंभावमें आकर तुम्हारे नामसे बड़े बड़े मन्दिर बनवाते हैं, तथा बहुत दान करते हैं, पर मैं तो आपके शरणागत हूँ, दीनातिदीन हूँ, जो कुछ मेरा है वह आपका दिया हुआ होनेसे वास्तवमें आपकाही है, इससे मैं सर्वस्व सहित अपने आपको, आपके पादपद्मोंमें समर्पण करता हूँ, आप मेरा परित्याग न करें मेरी यही एक प्रार्थना है।" ऐसे आत्मसमर्पणसे सर्वप्रकारकी आसक्ति नष्ट हो जाती है, केवल सर्वभूतोंके अन्तरात्मा तथा आधारस्वरूप भगवानके प्रतिही प्रेमात्मिका आसक्ति रहती है। ऐसी प्रेमासक्ति जीवात्माके लिए बधंनका कारणरूप नहीं होती, परंतु सर्व बधनमेंसे मुक्तिका कारणरूप बनती है।

—०—

८. पराविद्या और पराभक्ति एकही है

उपनिषद्‌में परा और अपरा नामसे दो विद्याओंका उल्लेख है :—

द्वे विद्ये वेदितव्ये इतिस्म यद् ब्रह्मविदो वदन्ति परा चैवापरा च।
तत्रापरा ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्ववेदः
शिक्षाकल्पो व्याकरणं निरुक्तछन्दो ज्योतिषमिति।
अथ परा यया तदक्षरमधिगम्यते ॥

(मुन्डकोपनिषद्)

ब्रह्मज्ञानी कहते है, कि दो विद्यायें जानने योग्य हैं, परा और अपरा। इन दोनोंमें ऋग्, यजुर्, साम और अथर्ववेद, शिक्षा (वेद की उच्चार पद्धतिका शिक्षण), कल्प (यज्ञ करनेकी रीति), व्याकरण, निरुक्त (वैदिक शब्दोंकी उत्पत्ति और अर्थका कोष), छन्द और ज्योतिष, यह अपराविद्या है, और जिसके द्वारा अक्षरब्रह्मको जाना जाता है वह पराविद्या

है । पराविद्या और ब्रह्मज्ञान एकही है । देवी भागवत्में पराभक्तिके संबंध में लिखा है कि, "जिसतरह तेलको एक बरतनसे दूसरे बरतनमे डालते समय अविच्छिन्न धारा चलती है, उसीतरह मन जब एकधारसे भगवानका स्मरण करता है, तबही पराभक्तिका उदय होता है।"

दूसरी सब प्रकारकी भक्ति, पराभक्ति तक पहुँचनेकी सीढ़ियांरूप हैं। मनुष्योंका प्रेम, जहां प्रतिदान मिलता है, वहांही साधारणतया होता है। प्रतिदान न मिले तो मनुष्य उदासीन हो जाता है। ऐसे बहुत थोड़े हैं, जो प्रतिदानकी अपेक्षा बिनाही प्रेमका प्रवाह चलाते हैं। ऐसे प्रेमकी तुलना पतंगके अग्निके प्रति प्रेमके साथ की जा सकती है। अग्निमें आत्मसर्पण करके पतंग मर जाता है, क्योंकि यह उसका स्वभाव है। पतंग सर्वोच्च प्रेमका दृष्टान्त स्वरूप है। जब आध्यात्मिक विषयमें ऐसा प्रेम उत्पन्न होता है, तबही पराभक्तिकी प्राप्ति होती है।

प्रेममें लेने देनेका भाव नहीं होना चाहिए। जहां ऐसी आशा रहती है, वहां यथार्थ प्रेम उत्पन्न नहीं हो सकता। वहां तो केवल प्रेमकी दुकानदारी होती है, ऐसा कह सकते हैं। जबतक भगवानके पाससे कुछभी प्राप्त होनेकी आशा रहती है, तबतक भक्ति भयमिश्रित होती है, और जहां भय है वहां प्रकृत प्रेमका वास नहीं है। सच्ची प्रेमपूर्वक की हुई भक्ति और कुछ प्राप्त होनेकी आशासे की हुई भक्तिका अन्तर नीचे दिये हुए दृष्टान्तसे मालूम होगा।

एक समय किसी बादशाहकी जंगलमें फिरते-फिरते एक सच्चे साधुसे भेंट हुई। उस साधुकी पवित्रता तथा उसका प्रकृत ज्ञान देखकर राजा बहुत प्रसन्न हुआ और अपने राज्यमें पधारनेके लिए उससे बहुत आग्रह करने लगा। पहले तो उस साधुने आनेसे बिलकुल ना करदी, पर बादशाहका अतिशय आग्रह देख थोडे दिनोंके लिए वह उसकी राजधानीमे गया। वहाँ पहुँचनेके बाद उस बादशाहने साधु पुरुषसे अपने पाससे दान ग्रहण

करनेके लिए विनती की। उसका अतिशय आग्रह देख उसने दान लेना स्वीकार कर लिया, पर बादशाह दान देनेसे पहले प्रभुसे प्रार्थना करने लगा कि, "प्रभु! मेरी संततिमें वृद्धि करो, मेरी संपत्तिमेंभी वृद्धि करो, मेरे राज्यका और अधिक विस्तार हो, और मेरा शरीर निरोगी रहे।"

बादशाहकी यह प्रार्थना पूरी होनेसे पहलेही साधु उठकर चलने लगा। यह देखकर बादशाह उसके पीछे दौड़ा और कहने लगा, "साधु महाराज! आप दान स्वीकार किए बिनाही कैसे चले जा रहे हैं?"

साधुने जवाब दिया, "ओ भिक्षुक! मैं भिक्षुकके पाससे भिक्षा नहीं लेता। तू स्वयं भीख मांगता है, तो फिर मुझे क्या दे सकेगा? वापस लौटजा, और मुझे अपने रास्ते जाने दे।"

इस दृष्टान्तमें भिक्षुक भक्त और भगवानके यथार्थ प्रेमीभक्तके बीच का अन्तर बताया है। मुक्ति मिलनेकी इच्छासे की हुई भक्तिभी, नीची प्रकारकीही है। प्रेमके बदलेमें कुछभी मागना नहीं चाहिए, प्रेमका समर्पण करके बदलेमें कुछभी मिलनेकी इच्छा नहीं रखनी चाहिए।

आगे कहा है, कि प्रेममें किसीभी प्रकारका भय नहीं रह सकता। भयसे भगवानपर प्रेम करनेवाले मनुष्यत्वकी नीची श्रेणीके होते हैं। भगवानके संबंधमें उनकी धारणा ऐसी होती है, कि वह एक महान पुरुष है, और उसके एक हाथमें गदा और दूसरे हाथमें अभय है, उसका हुक्म नहीं माननेसे वह सजा करता है। इस तरहकी उपासना नीची प्रकारकी है, क्योंकि सच्चे प्रेममें भय होताही नहीं

प्रकरण दूसरा

---

१. भक्तिके अधिकारी कौन ?

यदृच्छया मत्कथादौ जातश्रद्धस्तु यः पुमान् ।
न निर्विण्णो नातिसक्तो भक्तियोगोऽस्यसिद्धिदः ॥

"जिस पुरुषको यथार्थ वैराग्य अथवा ज्ञानकी प्राप्ति नहीं हुई है, लेकिन संसारमें जिसकी विशेष आसक्ति नहीं है, और मेरी कथा आदिमें जिसको श्रद्धा उत्पन्न हुई है, उसको भक्तियोगका साधन सिद्धि प्रदान करनेवाला है।"

भक्तियोग जाति, कुल या उम्रकी अपेक्षा नहीं रखता। वृद्धावस्था आवे तबतक भक्ति स्थगित रखनेका विचार भ्रममूलक है। रामकृष्णदेव कहते थे, कि अगर भक्तिबीज बोना हो तो हृदय कोमल हो तबही बोना चाहिए। बचपनमें हृदय मट्टी जैसा मुलायम होता है, इसलिए उसवक्तही यह बीज बोना चाहिए यही सबका कर्त्तव्य है। संसारमें पड़नेके बाद हृदय सूखी हुई ईंटकी तरह सख़्त हो जाता है। इसलिए उसमेंसे अँकुर मुश्किलसे फूट सकता है। विद्या तथा धनके उपार्जनके साथही भक्तिकाभी साधन करना चाहिए, क्योंकि धर्महीन विद्या तथा धन अधिकतर अकल्याणका कारण बन जाते हैं।

शिशौ नासीद्वाक्यं जननि तव मन्त्रं प्रजपितुम् ।
किशोरे विद्याया विषमविषये तिष्ठति मनः ॥
इदानीं भीतोऽहं महिषगलघण्टाघनरवा–
न्निरालम्बो लम्बोदरजननि कं यामि शरणम् ॥

"हे गणपति माता दुर्गा। बचपनमें मेरेमें बोलनेकी शक्ति नहीं थी, इससे मैं तेरा मन्त्र नहीं जप सका, किशोरावस्थामें विद्यामें तथा जवानीमें संसारके पदार्थोंमें मेरा मन मग्न रहा, इससे मैं तेरी भक्तिभी नहीं कर सका। माता! अब वृद्धावस्थामें यमके वाहन पाड़ेके गलेके घन्टेकी आवाज सुनकर मैं थरथरा जाता हूं। माँ! अब मैं किसकी शरण जाऊँ? तेरे बिना मेरा दूसरा कोई आसरा नहीं है।"

सारी उम्र धर्महीन जीवन बितानेसे अन्तमें वृद्धावस्थामें इसतरह विलाप करना पड़ता है।

मृत्युके लिए तो प्रत्येक पल तैयार रहना चाहिए। मृत्युके मनमें तो बालक युवा, वृद्ध—ये सब बराबरही हैं। उससे डरते रहने से फायदा नहीं, लेकिन वीरतापूर्वक उसके सामने जानेके लिए तैयार रहना चाहिए। एकमात्र धार्मिक जीवन गुजारनेसेही इसप्रकारका साहस पैदा हो सकता है।

महाभारतमें कहा है जैसे —

युवैव धर्मशील स्यादनित्यं खलु जीवितम्।
को हि जानाति कस्याद्य मृत्युकालो भविष्यति ॥

"युवावस्थामेंही धर्मप्राप्ति कर लेनी चाहिए, क्योंकि जीवन क्षणभंगुर है, आज किसकी मृत्यु होने वाली है, यह कौन जान सकता है?"

Always be thou prepared and so live that death may never find thee unprepared

(Imitation of Christ)

ध्रुव और प्रह्लादकी तरह बचपनमेंही भक्ति करनेसे दयामय भगवानका दर्शन सहजमें होता है। उस समय सांसारिक विषयोंसे चित्त मलिन होया हुआ नहीं होता इससे भगवद्‌भाव आसानीसे प्रकट होता है। भक्तवर प्रह्लाद कहते हैं जैसे "दुर्लभं मानुषं जन्म तदप्यध्रुवमर्थदम्॥"

एक तो मनुष्य जन्मही दुर्लभ है, उसमें फिर जीवनमें सफलकाम होना तो बिल्कुलही अनिश्चित है, इसलिए समय खोये बिना बचपनमेंही भक्ति-साधन कर लेना चाहिए।

पृथ्वीपर जो जो महात्मा हो गये हैं, उनके जीवन-चरित्र देखनेसे मालूम पडेगा, कि उन सबने बाल्यावस्थासेही भक्तिका उपार्जन किया था। भगवान श्रीशंकराचार्य, रामकृष्ण परमहंस, चैतन्यदेव, जीसस क्राइस्ट, नरसिंह मेहता, मीरां बाई, तुकाराम—इन सबके दृष्टान्त अपनेको यही मार्ग बताते हैं।

भगवानकी नज़रमें कोई ऊँचा या नीचा नहीं है। अखा भक्त कहता है जैसे :—

"ऊँच हुए सो ऊँच न जाण, नीच सो नाहिं नीच निर्वाण,
ऊँचमें राम दुगुणो नहिं भर्यो, नीच पिंड खाली नहीं कर्यो।"

नीच जातिमें जन्म होनेपरभी भगवानकी कृपा प्राप्त करनेवाले बहुतसे भाग्यशाली भक्तोंका नाम भक्ति-शास्त्रोंमें मौजूद है।

गरुड पुराणमें कहा है कि :—

अष्टविधाह्येषा भक्तिर्यस्मिन् म्लेच्छोऽपि वर्तते
स विप्रेन्द्रो मुनिः श्रीमान् स यतिः स च पंडितः ॥

अष्टविध भक्तिका म्लेच्छमेंभी प्रकाश हो सकता है। फिर वह म्लेच्छ नहीं रहता, पर विप्रश्रेष्ठ, मुनि, श्रीमान्, यति और पंडितरूप हो जाता है।

रोहिदास भक्त जातिके चमार थे, मद्रासमें हुए नन्दा भक्त ढेढ थे, वहींके तिरूपान आळोयार नामके श्रेष्ठ भक्तभी जातिके चांडाल थे, तथा हरिदास नामके चैतन्यदेवके एक शिष्य मुसलमान थे।

व्याधस्याचरणं ध्रुवस्य च वयो विद्या गजेन्द्रस्य का।
कुब्जायाः किमुनामरूपमधिकं किं तत् सुदाम्नो धनम् ॥

वंशः को विदुरस्य यादवपतेरुग्रसेनस्य किं पौरुषम् ।
भक्त्या तुष्यति केवलं न च गुणैर्भक्तिप्रियो माधव' ॥

"महाभारतमें वर्णित धर्मव्याधमें आचरण कहाँ था ? ध्रुवकी उम्र कितनी थी ? गजेन्द्रमें विद्या कहाँ थी ? कुब्जामें नामरूप कहाँ था ? विप्र सुदामाके पास धन कहाँ था ? विदुरमें कुलकी श्रेष्ठता कहाँ थी ? तथा यादवपति उग्रसेनमें पौरुष कहाँ था ? लेकिन फिरभी माधव उनके ऊपर प्रसन्न हुए । भक्तिप्रिय माधव गुणको नहीं देखते, केवल भक्तिसेही संतुष्ट होते हैं ।"

यद्यपि विद्वत्ता भक्तिका आवश्यक अंग नहीं है तो भी विद्यासे विचारशक्ति बढ़ती है, और उसकी सहायतासे भक्त बहुत तरहके भ्रमोंसे बच जाता है, इसलिए उतने प्रमाणमें विद्या उपार्जन करनेकी जरूरत है ।

अखा कहता है जैसे :—

"ज्ञान विना भक्ति नव थाय,
जेम चक्षुहीणो ज्यां त्यां अथडाय ।"

इसपर एक दृष्टान्त है —

जगत्‌के उल्टे रास्ते दौड़नेवाले भूतोंकी एक टोली थी । वे अपने राजाकी आज्ञासे मनुष्योंको कुमार्ग पर चलानेका प्रयत्न करते थे । एक समय प्रत्येक भूत राजाको अपने किए हुए पराक्रमोंकी हक़ीक़त कहने लगा । उनमेंसे एक भूतने कहा कि, 'मैंने युक्ति करके पाठशाला जाते हुए छोकरोंके पाससे उनकी किताबें लेकर कुएमें फेंक दी ।" राजाने इस भूतकी खूब तारीफ की, और शाबाशी दी । दूसरे भूतोंको इससे ईर्ष्या हुई, और वे कहने लगे, कि हमारे महान पराक्रमोंकी तुमने कद्र न की और इतनी छोटीसी बातके लिए इस भूतकी इतनी तारीफ की !

राजाने जवाब दिया कि, "तुम सब भूल करते हो, तुम सबसे उसका पराक्रम ज्यादा है । विश्वास न होवे तो परीक्षा करके देखो ।"

ऐसा कहकर राजा भूतोंकी टोलीको एक गांवमें ले गया। वहाँ एक अंध श्रद्धावान बिना पढ़ालिखा रामभक्त रहता था, उसके पास देवदूतोंका वेष धारण करके तथा साथमें एक गधा लेकर यह मंडली पहुँची। फिर भूतोंके राजाने उस मूर्ख भक्तसे कहा, कि प्रभु तुम्हारी भक्तिसे बहुत प्रसन्न हुए हैं ; तुमको वैकुण्ठमें लेजानेके लिए हमको भेजा है, और साथमें सवारीभी भेजी है। आँखपर पट्टी बाँधकर वे उस भक्तको बाहर लाये, और गधेपर बिठाकर उसको भरे बाजारमें छोड़कर चले गए। उसकी ऐसी स्थिति देखकर सब हँसने लगे, और गधेपरसे उसको उतारकर ऐसा होनेका कारण पूछने लगे। भक्तने सारी हक़ीक़त कही तो लोगोंने हँसकरके कहा, कि भगवान्‌ने सवारी तो अच्छी भेजी है !

इसके बाद भूतोंका राजा उन सबको एक विद्वानके पास ले गया, और उससे भी कहा, कि तुमको भगवान वैकुण्ठमें बुलाते हैं। विद्वान ने विचार किया, कि मैंने जिन्दगी भरमें ऐसे अच्छे कर्म नहीं किये, कि भगवान ख़ास वैकुण्ठमें बुलानेके लिए देवदूत भेजते। हो न हो यह तो प्रेतकी टोली मुझे फँसानेके लिएही आई है। ऐसा विचारकर उसने मन्त्रोच्चार करके पानीका छींटा मारा, कि तमाम टोलीको भागना पड़ा। दौड़ते दौड़ते राजाने अपनी टोलीसे कहा कि, "देखो कैसे भागना पड़ता है ? बुद्धिहीन होता है तो आसानीसे अपने सिकन्जेमें आ जाता है। अब तुम समझ गये होवोगे कि दुनियामें अज्ञानका प्रचार करे वह किस लिए सबसे ज्यादा पराक्रमी है।"

जीसस क्राइस्ट तथा रामकृष्ण जैसे जन्मसिद्ध महापुरुष विद्याभ्यासकी अपेक्षा बिनाही सिद्धि लाभ कर सकते हैं, यह सच है, परंतु साधारण जनोंको इस विषयमें उनका अनुकरण नहीं करना चाहिए। उनको तो विद्या द्वारा ज्ञानबलका संचय करके विवेक सहित भक्तिमार्गमें आगे बढ़ना चाहिए। विचार और अभ्यासकी कमीसे भक्तोंमें नाना प्रकारके भ्रमपूर्ण भावोंकी उत्पत्ति देखनेमें आती है। ऐसे भावोंसे अपना तथा दूसरोंका भला

होनेके बदले अनिष्टही होता है। इस प्रकारकी बुद्धिहीन भक्तिसे कपटाचारी दुष्ट धर्मगुरुओंकी सत्ता कायम रहती है। इसलिए आधुनिक युगमें भक्तगणोंको अपनी बुद्धिका पूरा उपयोगकर सत्यासत्यका निर्णय करना अति आवश्यक है।

—०—

२. उत्तम भक्तके लक्षण

भागवतमें भक्तोंके उत्तम, मध्यम, और कनिष्ठ इस तरह तीन विभाग किये गये हैं।

कनिष्ठ भक्त :—जो श्रद्धापूर्वक प्रतिमामें प्रभुपूजा करते हैं, लेकिन हरिभक्तों अथवा अन्य किसीकी पूजा नहीं करते, वे प्राकृत भक्त हैं। इसमेंसे उनको धीरे-धीरे उत्तम प्रकारकी भक्तिका लाभ होता है। इस वर्गके भक्त साधारणतया स्वार्थपर होते हैं, और सद्विचारभी उनमें थोड़ा होता है। स्वार्थके लिए मद-कार्य करते वे नहीं हिचकिचाते। उनमें काम, क्रोध, लोभादि शत्रु पूर्ण मात्रामें वर्तमान होते हैं। एकमात्र भोगादि वस्तुओंकी प्राप्तिकी इच्छासे अथवा शत्रुके नाशके लिएही वे भगवानकी भक्ति करते हैं।

मध्यम भक्त :—जिनका ईश्वरमें प्रेम होता है, भक्तोंमें मित्रभाव होता है, मूर्ख व्यक्तियोंके प्रति जो कृपादृष्टि रखते हैं, वे मध्यम भक्त हैं। उनमें ईश्वरके प्रति थोड़ा प्रेम हुआ होता है, इससे ईश्वरके भक्तोंके प्रतिभी उनको प्रेमभाव होता है। मूर्खोंके प्रति प्राकृत भक्तोंमें जो घृणाभाव देखनेमें आता है, उसके बदले इन भक्तोंमें थोड़ी कृपाका आविर्भाव हुआ होता है। पहली अवस्थामें शत्रुके प्रति द्वेष तथा हिंसा भावसे हृदय परिपूर्ण रहता था, उसके बदले अब उपेक्षा बुद्धि रहती है, लेकिन अभी

तक समभाव आया हुआ नहीं होता, और इसलिए भगवत्प्रेममें पूर्णरूपसे मग्न हो नहीं सकता।

उत्तम भक्त :—

न यस्य स्वः पर इति वित्तेष्वात्मनिवाभिदा।
सर्वभूतसमः शान्तः स वै भागवतोत्तमः॥

जिनके मनमें अपने और परायेका भेद नहीं, और वित्तादिमें भी मेरा और तेरा ऐसा ज्ञान नहीं होता, सर्वभूतोंमें समदृष्टिवाले, जिनकी इन्द्रियां और मन वशमें हो गया है, वे उत्तम भक्त हैं।

जो सर्वभूतोंमें भगवानका ऐश्वर्य देखते हैं, और सर्व पदार्थोंको भगवानमें अधिष्ठित देखते हैं, वे उत्तम भक्त हैं।

इन्द्रियों द्वारा भोग्य विषयोंको ग्रहण करते हुए भी, आनन्द या शोकको जिनका मन स्पर्श नहीं करता, तथा यह सब ईश्वरकी माया है, ऐसा देखते हैं वे उत्तम भक्त हैं।

देह, इन्द्रिय, प्राण, मन, बुद्धि तथा जन्म, मृत्यु, क्षुधा, तृषा दु:खादिसे उत्पन्न हुआ भय, भगवानका स्मरण करके इन सब सांसारिक धर्मोंसे जो मोहको प्राप्त नहीं होते, वे उत्तमभक्त है।

जिनके चित्तमें वासना-जनित कर्मबीज उत्पन्न नहीं हो सकता, जो एकमात्र श्रीवासुदेव परही पूर्णतया आधार रखते हैं, वे उत्तम भक्त है।

जन्म, कर्म, वर्ण, आश्रम, तथा जातिको लक्ष्य करके जिनको देहमें आत्मबुद्धि नहीं होती, वेही श्रीहरिको प्रिय हैं और वेही उत्तम भक्त हैं।

निमिषार्ध मात्रभी भगवत्पदसे मनको हटानेसे त्रिभुवनके ऐश्वर्यके अधिकारी हो सकते हों, फिरभी जो ऐसे प्रलोभनोंसे ललचाते नहीं, वे श्रेष्ठ भक्त हैं। गीतामें श्रीकृष्ण भगवान कहते हैं कि :—

अद्वेष्टा सर्वभूताना मैत्रः करुण एव च ।
निर्ममो निरहंकारः समदुःखसुख क्षमी ॥
संतुष्टः सततं योगी यतात्मा दृढ़निश्चयः ।
मय्यर्पितमनोबुद्धिर्यो मद्भक्तः स मे प्रियः ॥ इत्यादि ।
(देखो अध्याय १२, श्लोक १३ से २०)

"सर्व प्राणियोंमें द्वेषरहित, मित्रता तथा करुणावाला, ममतारहित, निरहंकार, सुखदु.खमें समान रहनेवाला, क्षमावान, सदा सतोषी, इन्द्रियोंको वशमें रखनेवाला, दृढ़ निश्चयवाला, मन तथा बुद्धि मुझे अर्पण करनेवाला—इसप्रकारका भक्त मुझे प्रिय है । जिससे लोग उद्वेगको प्राप्त नहीं होते, और जो दूसरोंसे उद्वेगको प्राप्त नहीं होता, तथा जो हर्ष, क्रोध, भय और खेदसे मुक्त है—वह मुझे प्रिय है । स्पृहारहित, पवित्र, दक्ष, उदासीन, क्लेशमुक्त, और जिसने सर्व आरंभ छोड़ दिए हैं, (जो अपनी वासना की पूर्तिके लिए किसी कामका आरभ नहीं करता) वह मुझे प्रिय है । जो हर्ष या द्वेष नहीं करता, जो शोक या इच्छा नहीं करता, जो शुभ या अशुभ कर्मफलकी अपेक्षा नहीं रखता, ऐसा भक्तिमान मुझे प्रिय है । जो शत्रु तथा मित्रमें, मान और अपमानमें, शीत तथा उष्णमें, और सुख-दु.खमें समान रहता हुआ सर्वत्र आसक्ति रहित होता है, जिसके लिए निन्दा और स्तुति दोनों समान है, जो कम बोलता है, और सर्वदशामें संतोष मानता है, जो घर रहित और स्थिर बुद्धिवाला है, वह पुरुष मुझे प्रिय है । जो मुझेही अपना सर्वस्व मानकर ऊपर कहे हुए अमृत तुल्य धर्मका श्रद्धासे आचरण करता है, वह भक्त मुझे अत्यत प्रिय है ।"

यहाँ यह प्रश्न सहजही उठता है कि अगर उत्तम भक्तका लक्षण शत्रु मित्रादिमें समबुद्धि रखनाही है तो श्रीकृष्ण भगवानने अपने उत्तम भक्त अर्जुनको स्वजनोंको मारनेका उपदेश कैसे दिया होगा ?

इस प्रश्नका सक्षेपमें यह जवाब है कि —

१. अर्जुन क्षत्रिय था, और उसको क्षात्रधर्मका अवश्य पालन करना

चाहिए था। इस धर्मसे भ्रमवशात् भ्रष्ट होकर वह ब्राह्मण धर्मका पालन करनेको आने लगा।

२. उसमें रजोगुणकी प्रबलता थी, और गुण प्रमाणसे धर्मका आचरण करनाही स्वाभाविक है, लेकिन अर्जुन मोहके कारण स्वभाव विरुद्ध आचरण करनेको तैयार हुआ था। स्वभाव विरोधी प्रत्येक कर्म हानिकारक है, इसलिएही सारा उपदेश देनेके बाद गीताजीके अठारवें अध्यायमें भगवान श्रीकृष्णने कहा है कि :—

स्वभावजेन कौन्तेय निबद्धः स्वेन कर्मणा।
कर्तुं नेच्छसि यन्मोहात् करिष्यस्यवशोऽपि तत्॥

हे अर्जुन! अपने स्वभावजन्य कर्मसे बँधाहुआ होनेसे, मोहसे जो तू करना नहीं चाहता है वही प्रकृतिके आधीन होकर तुझे करना पडेगा।

३. अर्जुनने पहलेसे लड़ाईके लिए दृढ संकल्प किया तथा उसको पहलेसेही खबर थी कि लड़ाईमें स्वजनों, बुजुर्गों तथा गुरुओंके विरुद्ध शस्त्र उठाना पडेगा, तो भी उसको लड़ाईकी तैयारी करते समय थोडासा भी वैराग्यका उदय नहीं हुआ, और लड़ाईके मैदानमें आनेके बाद स्वजनोंको सामने खड़ेहुए देख जो वैराग्य उत्पन्न हुआ वह क्षणिक और मोहजन्यही था;—इसलिए वह यथार्थ वैराग्य नहीं था। श्रीकृष्ण भगवानने यह बात समझकरही अर्जुनको कहा था कि :—

कुतस्त्वा कश्मलमिदं विषमे समुपस्थितम्।
अनार्यजुष्टमस्वर्ग्यमकीर्तिकरमर्जुन॥
क्लैब्यं मा स्म गमः पार्थ नैतत्त्वय्युपपद्यते।
क्षुद्रं हृदयदौर्बल्यं त्यक्त्वोत्तिष्ठ परंतप॥

हे अर्जुन! ऐसी भयभरी स्थितिमें अधोगतिकारक यह मोह तुझे कहाँसे हुआ? अनार्यके योग्य इस मोहसे तेरी अपकीर्ति होगी। पार्थ! ऐसा नामर्द मत बन, यह तुझे शोभा नहीं देता, हृदयकी ऐसी

निन्दा करने योग्य दुर्बलता दूर करके लड़नेके लिए तैयार हो।

और, हृदयमें द्वेष या हिंसाका भाव न रखकर केवल कर्तव्यधर्मको पालन करनेके लिएभी श्रीभगवानने उपदेश दिये हैं।

—०—

३. भक्तिपथमें अन्तराय और उनको दूर करनेके उपाय

भक्तिमार्गमें अनेक प्रकारके विघ्न आते हैं। कितने तो बाहरके हैं और कितनेही अंदरके। बाहरके विघ्नोंमें मुख्य कुसंग है। कुसंगका मतलब केवल दुष्ट लोगोंकी संगतही नहीं है, लेकिन इसमें खराब पुस्तकोंका पठन, कुत्सित चित्रोंका दर्शन, निम्न प्रकारके संगीतका तथा अश्लील शब्दोंका श्रवण वगैरहका समावेशभी है। प्रकृत भक्त बनना हो तो इन सब बातोंका त्याग करना चाहिए, क्योंकि कुसंगादिसे मनमें कुत्सित भावोंका उदय होता है, जिससे मन मलिन होता है, और मलिन मनमें शुद्धभक्तिका प्रतिबिम्ब नहीं पड़ सकता। कुसंग जैसी अनिष्टकर दूसरी कोईभी वस्तु नहीं है। सच्चे मनुष्योंमेंसे बहुतोंका पतन होनेका कारण कुसंगही है। कुमार्गपर चढ़ानेवाले बहुत मिलते हैं, लेकिन सत्पथका सहयात्री विरलाही है। जो कोई मनुष्य उच्च जीवनका अनुगामी होनेकी इच्छा करता है, तो वह अधिकांश जनसमाजकी टीकाका पात्र बनजाता है। अज्ञान माता पिताभी कितनी बार अपने संतानको उल्टे रास्तेपर चलनेको मजबूर करते हैं। जो लड़के अपने मा-बापकी इच्छाके विरुद्ध सत्पंथपर प्रयाण करते हैं, तो वे उनको ऐसा करनेमें रुकावटें डालते हैं। कोई बालक भक्ति-भावसे परिपूर्ण होकर त्याग तथा वैराग्यके रास्ते जाना चाहता है, तो अधिकतर मा-बापही उसको दुःखदायी सांसारिक बंधनोंमें जकड़ देनेके लिए बहुत प्रयत्न करते हैं।

यह तो बाहरकी कठिनाइयोंका वर्णन हुआ। अब काम क्रोधादिक आंतर्वृत्तियें किस तरहसे विघ्नरूप होती है वह देखिए। नारद भक्तिसूत्रमें कहा है कि :—

कामक्रोधमोहस्मृतिभ्रंशबुद्धिनाशसर्वनाशकारणत्वात् ॥

तथा श्रीभगवद्गीतामें भी कहा है कि :—

ध्यायतो विषयान्पुंसः संगस्तेषूपजायते।
संगात्सजायते कामः कामात्क्रोधोऽभिजायते ॥
क्रोधाद्भवति संमोहः संमोहात्स्मृतिविभ्रमः।
स्मृतिभ्रंशाद् बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात्प्रणश्यति ॥

"सांसारिक पदार्थोंका चिंतन करनेसे उनमें आसक्ति पैदा होती है, आसक्तिमेंसे उन पदार्थोंको पानेकी इच्छा जागती है, इस इच्छाके पूर्ण होनेमें विघ्न आनेसे क्रोध होता है, क्रोधसे मोह, मोहसे कर्तव्यका भान नहीं रहता, कर्तव्यके भानसे रहित होनेसे विचारबुद्धिका नाश होता है, और बुद्धिके नाश होनेसे सत्यानाश हो जाता है।"

इसलिए स्वयं सांसारिक पदार्थोंका सेवन नहीं करना, इतनाही नहीं, पर घोर विषयासक्त लोगोंका संगभी नहीं करना चाहिए। सांसारिक पदार्थोंके चिंतनसे तथा विषयी लोगोंके संसर्गसे भोग-वासना प्रबल होती है और यह वासनासमूह ही जन्म-मृत्युका कारणरूप बनता है, जिससे मनुष्य अधिकाधिक बँधनमें आता जाता है।

सत्संग, सत्शास्त्रपाठ, भगवत्चिंतन—ये इसमेंसे बचनेके उपाय हैं। कामादिक् हीन वृत्तियें शरीरधारी मात्रके अंतरमें रहतीही हैं, पर साधारण मनुष्य उनके अधीन हो जाते हैं, जबकि महात्मा लोग उनके वेगको रोक सकते हैं। जिसप्रकार मदारी सर्पोंको मन्त्रशक्ति द्वारा वशमें करके उनके पाससे मनमाने खेल करवाता है, लेकिन वे सर्प उसको काट नहीं सकते, उसी तरह महात्मा पुरुष विवेक वैराग्यादि द्वारा इन हीन वृत्तियोंको वशमें

रखते हैं, जिससे इनका अनिष्ट परिणाम उनको भोगना नहीं पड़ता।

विवेक वैराग्यादिके लाभके लिए सत्संगादिका सेवन करना चाहिए, तथा उसके उपरांत अपने प्राचीन ऋषिमुनियोंकी तरह हमेशा ऐसी प्रार्थना करनी चाहिए कि :—

ॐ भद्रं कर्णेभिः शृणुयामदेवाः। भद्र पश्येमाक्षभिर्यजत्राः।
स्थिरै रङ्गैस्तुष्टुवांसस्तनूभिर्व्यशेम देवहितं यदायुः॥

"हे प्रभु! हम प्रार्थना करते हैं कि केवल शुभ शब्दही हम सुनें, हमारी आँखें केवल कल्याणकारी वस्तुएंही देखें, सुस्थिर अवयवों द्वारा हम तुम्हारी स्तुति करें, और हमारी आयु देवताओंके हितकारी रहते हुए बीते।"

इसप्रकार वर्तनेसे इन्द्रियोंकी चचलता दूर होती है, जिससे भक्त जितेन्द्रिय बनता है, और उसकी इन्द्रियाँ तथा शरीरके अवयव उसके वशमें रहते हैं।

श्रीमद् भगवद् गीतामें अर्जुन श्रीकृष्णसे प्रश्न पूछता है कि :— "भगवन्! मनुष्य इच्छा न होते हुएभी किसके प्रभावसे पापकर्म करनेको इच्छाके विरुद्ध प्रवृत्त हो जाता है ?"

श्रीभगवान् उत्तर देते हैं :—

काम एष क्रोध एष रजोगुणसमुद्भवः।
महाशनो महापाप्मा विद्ध्येनमिह वैरिणम्॥
धूमेनाऽव्रियते वह्निर्यथाऽऽदर्शो मलेन च।
यथोल्वेनावृतो गर्भस्तथा तेनेदमावृतम्॥
आवृतं ज्ञानमेतेन ज्ञानिनो नित्यवैरिणा।
कामरूपेण कौन्तेय दुष्पूरेणानलेन च॥
इन्द्रियाणि मनो बुद्धिरस्याधिष्ठानमुच्यते।
एतैर्विमोहयत्येष ज्ञानमावृत्य देहिनम्॥

(अ० ३ श्लोक ३७ से ४०)

रजोगुणमेंसे उत्पन्न हुए ये दुष्ट काम और क्रोध कभी तृप्त नहीं होते, और मनुष्योंसे पापाचरण कराते है। ये दोनों मनुष्यके हमेशाके वैरी हैं, और उसके ज्ञानको ढक देते हैं। जैसे धुएँसे अग्नि या मलसे दर्पण ढकजाता है, अथवा जैसे जरायुसे गर्भ आवृत होता है, वैसेही कामादि द्वारा यह ढका हुआ होता है।...... इन्द्रिय, मन और बुद्धि ये कामके रहनेके स्थान हैं, इनके द्वारा देहियोंको यह मोहमें फँसाए रखता है।

न जातु कामः कामानामुपभोगेन शाम्यति।
हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाभिवर्धते॥

"उपभोग द्वारा कभी भी कामकी तृप्ति नहीं होती। अग्निमें घी डालनेसे जिसतरह उसकी ज्वाला बढ़ती है, उसीतरह उपभोगसे कामकी प्रवृत्ति बढ़ती जाती है।" इसलिए :—

तस्मात्त्वमिन्द्रियाण्यादौ नियम्य भरतर्षभ।
पाप्मानं प्रजहि ह्येनं ज्ञानविज्ञाननाशनम्॥

"हे भरतकुलभूषण! सबसे पहले इन्द्रियोंको वशमें करके तू ज्ञान तथा विज्ञानके नाश करनेवाले इस पापी कामको मार।"

इन्द्रियोंके दमनसे ज्ञानका प्रकाश होता है, और इससे काम क्रोधादिका नाश हो जाता है, यानी ये साधकके वशमें हो जाते हैं।

गीताजीके दूसरे अध्यायमें कहा है, कि "परं दृष्ट्वा निवर्तते" परमात्माके दर्शन होनेके पश्चात्‌ही कामादि हीन वृत्तियोंका तथा पुनर्जन्मादिका पूर्णतया नाश होता है। जबतक ऐसी स्थिति प्राप्त नहीं होवे तबतक साधकको बहुत सावधान रहना चाहिए. क्योंकि 'कज्जलके घरमें जित्ता श्यान होवे थोरा बूँद लागे पर लागे', काजलकी कोठरीमें जानेसे कितनीही संभाल रखो पर थोड़ा बहुत दाग़तो लगही जाता है।

इसीलिए गीताजीमें कहा है कि :—

तानि सर्वाणि संयम्य युक्त आसीत मत्पर ।
वशे हि यस्येन्द्रियाणि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥

"सब इन्द्रियोंको वशमें करके भक्तको मेरेमें चित्त लगाकर रहना चाहिए, क्योंकि जिसकी इन्द्रियाँ वशमे है उसकीही प्रज्ञा सुदृढ है।" सो —

विहाय कामान्य. सर्वान् पुमाश्चरति निस्पृह ।
निर्ममो निरहकार स शान्तिमधिगच्छति ॥

काम क्रोधादि दोष दूर करनेके लिए दो प्रकारके उपाय हैं, साधारण और विशेष।

साधारण उपाय :—

जो दुष्टभाव अपनेआप अत करणमें उत्पन्न नहीं होते, उनका आसानीसे निवारण हो सकता है। दृष्टान्तस्वरूप कितनीही वस्तुओंके स्पर्शसे और दर्शनसे, कितनेही शब्दोंके श्रवणसे मनमें दुष्ट वासनाओंका उदय होता है। ऐसे स्पर्श और दर्शनसे दूर रहें तो ये भाव उत्पन्न नहीं हो सकते।

जो दोष अत करणमें जड जमा बैठे है, उनसे हो रहे अनिष्टका चिंतन करना, उनसे दूसरोंके हुए बुरे हालका विचार करना तथा उन दोषोसे बचालेनेके लिए भगवानको अत करण पूर्वक प्रार्थना करना, ये भी उपाय हैं।

कामादिक दुष्ट वासनाओंकी प्रबलतासे स्नायु दुर्बल होते हैं, स्मरणशक्ति घटती है, शरीरमेंसे चेतनकी कमी होती है, और मनकी प्रफुल्लता नष्ट होती है, परिणामस्वरूप यह लोक तथा परलोक दोनों बिगडते हैं।

पाप करनेकी वृत्तिका उदय होते समय मृत्युकी स्मृति आवे, तो भी पापमेंसे निश्चय बचते हैं। देहकी नश्वरता सबधी विचार करनेसे वैराग्यवृत्ति सबल बनती है, और उस समय पापका प्रलोभन सामने आवे तो उसको साधक क्राइस्टकी तरह दृढतासे कह सकता है .—

Get thee behind me, Satan !

शैतान ! मेरेसे दूर जा।

जिस समय पापिष्ठ मार (कामदेव) भगवान बुद्धदेवकी वृत्ति चंचल करनेके लिए उनको प्रलोभन दिखाने लगा, उस समय वे सिंहगर्जना करके कहने लगे :—

मेरुः पर्वतराज स्थानाच्चलेत् सर्वं जगन्नोभवेत्
सर्वस्तारकसंघभूमिपतितः सज्योतिपेन्द्रो दिवः ॥
सर्वे सत्वा भवेयुरेकमतयः शुष्येन्महासागरो
न त्वेवद्रुमराजमूलोपगतश्चाल्येत अस्मद्विधः ॥

(ललित विस्तर)

हे दुष्ट मार (काम) ! यह तेरे सामने दिखाई देता पर्वतराज मेरु अपने स्थानसे कदाचित् चलायमान होजाय, सारा जगत् शून्यमें मिल जाय, आकाशमेंसे रवि चन्द्र नक्षत्रादि टुकड़े होकर जमीनपर गिर जायँ, विश्वके सब जीव इकट्ठे होकर मेरा विरोध करें, महासागर सूख जाय, तो भी वे मुझे इस वृक्षके नीचेसे तिलमात्रभी खिसका नहीं सकते ; इसलिए मार ! मेरेसे दूर जा, क्योंकि मुझे चलायमान करनेके तेरे सारे प्रयत्न व्यर्थ जायँगे।

ऐसे बलवान पुरुषही कामादि शत्रुओंको जीत सकते हैं; दुर्बलकी उनके सामने नहीं चलती। उपनिषद् पुकार पुकारकर कहते हैं कि :—

नायमात्मा बलहीनेन लभ्यः ॥

हरिका मारग है शूरेका, नहि कायरका काम।
परथम पहले मस्तक देवो, फिर तुम लेवो नाम ॥

(भावानुवाद— प्रीतमदास)

भगवानका सर्वव्यापीपन, अंतर्यामीपन वगैरह ईश्वरी गुणोंका विचार करनेसे भी, कामादिकी उत्तेजना द्वारा पापमें प्रेरित करनेवाली मतिपर अंकुश लगता है। 'मैं भगवानका बालक हूँ, अति पवित्र हूँ, मेरेमें ऐसी दुष्टता, ऐसी अधमता संभवही नहीं है।''—ऐसी भावना करनेसे भी

बलका अवश्य सचार होगा। प्रभुके साथका मानवकुलका संबंध भक्तके मनमें कितना सच्चा होता है, इसके अनेक प्रमाण अपने और अन्य धर्मोंके इतिहासमें मिलते हैं।

साधनाके मार्गपर प्रयाण करनेवालोंको अपना शरीर सुदृढ़ बनाना चाहिए, क्योंकि निर्बल शरीरसे साधना नहीं हो सकती। शारीरिक बलकी प्राप्तिके लिए शुद्ध आहार करना, मिरच जैसी गरम चीज़का त्याग करना, विलास-वैभवके पदार्थोंका त्याग करके शरीरको कसना, रात्रिको जागरण नहीं करना, थोड़े थोड़े समयसे उपवास करके शरीरके रसको कम करना तथा नियमसे खुली हवामें कसरत करना—ये सबको माफिक पड़े जैसे साधारण नियम हैं।

चचलता मनकी प्रकृति है, यह ज्यादा समय स्थिर नहीं रह सकता, इसलिए इसको जप, ध्यानादि सुकार्योंमें नियुक्त रखना चाहिए। अगर मनको कुछ काम न दिया जाय तो यह भूतकी तरह अपने मालिकका नाश करता है, लेकिन इसको सत्कार्यमें लगाया रखे तो स्वामीकी सब इच्छाएं पूर्ण करता है।

"शुद्धोऽहम्, बुद्धोऽहम्, मुक्तोऽहम्, पवित्रोऽहम् ," ऐसे शब्दोंके रटनेसे भी वासनाका सामना करनेके लिए बलका सचार होता है।

दूसरे धर्मोंके ग्रन्थोंमेंसे भी इस तरहकी बातें मिलती हैं।

Gird up thy loins like a man against the assaults of the devil, bridle thine appetite, and thou wilt soon be able to bridle every inclination of the flesh Be thou never without something to do, be reading or writing, or praying, or meditating, or doing something that is useful to the community

(Imitation of Christ.)

(कामादि शत्रुओंरूपी) शैतानसे सामना करनेके लिए खरे मर्दकी तरह कमर कस। तेरी सब वासनाओंको रोकना सीख, और ऐसा करनेसे तू इन्द्रियोंकी प्रवृत्तियोंको रोक सकेगा। कुछ-न-कुछ काम करनेके बिना कभी भी नहीं रहना। कुछ पढ़ना, कुछ लिखना, प्रार्थना करना अथवा ध्यान धरना, या जनसमाजके कल्याणके लिए कुछ काम करते रहना।

(इमिटेशन ऑफ क्राइस्ट)

संत पोल कहते हैं कि :—

"Know ye not that ye are the temple of God and that the spirit of God dwelleth in you?"

हम सब ईश्वरके मंदिररूप हैं और परमात्मा हमारे सबके हृदय-मंदिरमें बसते हैं, इस प्रकारकी भावना हमेशा करनी चाहिए।

वही महात्मा दूसरी जगह कहते हैं कि :—

"Ye are all the children of light . . . (and) not of the night, nor of darkness, therefore let us not sleep as do others, but let us watch."

"हम सब अमृत-ज्योतिके अंशरूप हैं, अज्ञान-जननी मायाके अंधकारके संतान नहीं, इसलिए हमको दूसरोंकी तरह उसकी भूलभुलैयामें नहीं फँसना चाहिए, लेकिन हमेशा जागृत रहना चाहिए।"

अगर कभी दुष्ट भावनाका उदय हो और अपने पास कोई नहीं हो, तो उच्चस्वरसे भगवानका कीर्तन करना अथवा किसी सज्जनके पास जाकर शास्त्रादिकी चर्चा करनी, जिससे मन शांत होगा।

श्रीरामकृष्णदेव कहते थे कि :—"कामक्रोधादि रिपुओंका संपूर्ण नाश नहीं हो सकता, लेकिन इनकी दिशाका परिवर्तन किया जा सकता है। ईश्वरको प्राप्त करनेकी कामना करो, सच्चिदानंदके साथ रमण करो; क्रोध न जाय तो भक्तिका तम लावो। भक्तिके तमसे क्या मतलब? "मैं दुर्गाका

नाम लेता हूँ, क्या मेरा उद्धार नहीं होगा ? अब मेरेमें पाप कहाँसे रहेगा ? बंधन कैसे होगा ?—इस प्रकारकी भावना। तत्पश्चात् ईश्वर साक्षात्कारका लोभ करना, ईश्वरके रूपपर मुग्ध होना। 'मैं ईश्वरका दास हूँ, पुत्र हूँ, यदि अहकार करना हो तो ऐसा अहकार करना। इस प्रकार छहों शत्रुओंका मुँह फिरा देना चाहिए।"

गीतार्थ चन्द्रिकामें भी कहा है कि —

न मय्यावेशित धिया काम' कामाय कल्पते।
भर्जितः क्वथितो धान प्रायो बीजाय नेष्यते॥

और

कामं क्रोध भयं स्नेहमैक्यं सौहृदमेव च।
नित्यं हरौ विदधतो याति तन्मयता हि ते॥
न चैव विस्मय' कार्यं भवता भगवत्यजे।
योगेश्वरेश्वरे कृष्णे यत एतद् विमुच्यते॥

कामवृत्तिका दमन

कामके प्रबल आवेगके समय यदि शरीरके नीचेके आधे भागको ठंडे पानीसे स्नान कराया जाय तो उसका आवेग बहुत कम हो जाता है।

उस समय अपनी माताका चिंतन करनाभी लाभकारी उपाय है, क्योंकि बालक और माताका संबध अति पवित्र है, अति मधुर है। इस पावनकारी भावनाका उदय होनेसे दूसरी सब भावनाएँ दूर हो जाती हैं। इसीप्रकार प्रभुका भी मातृरूपसे ध्यान धरनेसे यह दुष्टभाव भक्तको नहीं सता सकता, क्योंकि उसके मनमें प्रत्य स्त्री-मूर्ति परमेश्वरकी प्रतिकृतिरूप बन जाती है।

बहुतोंकी ऐसी मान्यता है, कि गृहस्थाश्रममें संयमका पालन करना संभव नहीं है। ऐसी भ्रममूलक धारणाका कारण हमारे जीवनकी अव्यवस्था है। पूर्वकालमें ब्रह्मचर्याश्रमकी व्यवस्था थी। उस अवस्थामें विद्याभ्यास

तथा गुरुसेवाके साथ शमदमादि नियमोंका पालन करना पड़ता था। इसका परिणाम यह होता था, कि पहलेसेही इन्द्रियोंपर अंकुश लग जाता, और मन सहजही भक्तिभावसे पूर्ण रहता था। आज उस व्यवस्थाकी कमीसे गृहस्थमें रहते हुए संयमी जीवन विताना बहुत कठिन हो गया है। पूर्वकालके ऋषिमुनि मानते थे कि, पुत्रार्थे क्रियते भार्या न तु कामाय॥ पुत्रकी इच्छासे गृहस्थाश्रमको अंगीकार करना चाहिए, न कि वासनाकी तृप्तिके लिए। ऐसी उच्च भावनासे भोगे हुए गृहस्थाश्रमके फलरूप संतान अति पवित्र स्वभाववाले और तेजस्वी होते थे।

क्रोध

महाभारतके वनपर्वमें युधिष्ठिर द्रौपदीसे कहते हैं कि :—

क्रोधमूलो विनाशो हि प्रजानामिह दृश्यते।
क्रुद्धः पापं नरः कुर्यात् क्रुद्धो हन्याद् गुरूनपि॥
क्रुद्धः परुषया वाचा श्रेयसोऽप्यवमन्यते।
वाच्यावाच्येहि कुपितो न प्रजानाति कर्हिचित्॥
नाकार्यमस्ति क्रुद्धस्य नावाच्यं विद्यते तथा।
हिंस्यात् क्रोधादवध्यांस्तु वध्यान् संपूजयेत च॥
आत्मानमपि च क्रुद्धः प्रेषयेद् यमसादनम्।
क्रुद्धो हि कार्यं सुश्रोणि न यथावत् प्रपश्यति।
न कार्यं न च मर्यादां नरः क्रुद्धोऽनुपश्यति॥

इस लोकमें क्रोध जीवोंके विनाशका मूल है, क्योंकि क्रोधके वशमें होकर मनुष्य पाप करता है, और गुरुकाभी वध करदेता है। क्रोधके आवेशमें मनुष्य कठोर वचन बोलकर भला करनेवालेकाभी अपमान कर बैठता है; क्रोधमें मनुष्यको क्या कहना और क्या नहीं कहना, इसकाभी भान नहीं रहता। क्रोधी मनुष्य न करे, ऐसा एकभी काम नहीं, और न बोले ऐसा एकभी शब्द नहीं। अवध्यकाभी क्रोधावेशमें वध करदेता है,

और वध करने योग्यको पूजता है, तथा क्रोधसे अपनेकोभी यमसदनमें पहुँचाता है। क्रोधी पुरुष, कार्य किसतरह करना चाहिए यह नहीं समझ सकता, और उसको मर्यादाकी तथा कार्यकी विस्मृति हो जाती है।

मनुस्मृतिमें क्रोधसे उत्पन्न होनेवाले आठ दोषोंको बताया है :—

पैशुन्यं साहसं द्रोह ईर्षासूयार्थ दूषणम्।

वाग्दंडज च पारुष्यं क्रोधजोऽपि गुणोऽष्टकः ॥

क्रोध चांडाल है। इसके प्रभावसे मनुष्यका मनुष्यत्व नष्ट होता है, और नाना प्रकारके रोगभी उत्पन्न होते हैं, जैसे पागलपन, मूर्च्छा, हृदयकी कमजोरी, और कभी-कभी तो मृत्युभी हो जाती है।

क्रोधका दमन :—

१. क्रोधके ऊपर विजय प्राप्त करनेका एक उपाय यह है, कि मनमें बारंबार निश्चय करना चाहिए कि मैं कभी क्रोधित नहीं होऊँगा। क्रोधके आवेशके समय यह बात याद आनेसे उसका जोश कम हो जाता है।

२. जिस मनुष्य अथवा विषयके संसर्गसे क्रोध उत्पन्न होता है उससे दूर रहना चाहिए। बाइबलमें कहा है कि :—

"Let not the sun go down upon your wrath"

यदि कभी क्रोध आवे तो सूर्यास्तसे पहले उसको काबूमें करलेना चाहिए। बाइबलमें एक दूसरी जगह कहा है कि :—

"Therefore if thou bring thy gift to the altar, and there rememberest that thy brother hath aught against thee ,

Leave there thy gift before the altar, and go thy way , first be reconciled to thy brother, and then come and offer thy gift."

जीसस क्राइस्ट कहते हैं कि :— "परमेश्वरकी पूजाके स्थानमें जब नैवेद्य लेकर जाओ, और तुमको याद आवे, कि तुम्हारे बंधुओंमेंसे कोई तुमपर अप्रसन्न है, तो नैवेद्य वहीं रखकर वापस जाओ, और पहले बंधुके साथ मेलमिलाप करके फिर प्रभुके नैवेद्य अर्पण करो।"

जबतक हृदयमें क्रोधरूपी मलीनताका वास होता है, तबतक शुद्ध भावसे प्रभुकी पूजा हो ही नहीं सकती, इसलिए उस समय ऐसी मलीनताको अवश्य निकाल देना चाहिए। क्रोधसे मन चंचल बनता है, और चंचल मनसे भगवानकी भक्ति कैसे हो सकती है? ऐसी अवस्थामें की हुई पूजा भगवान ग्रहण नहीं करते, सो संपूर्ण शांतवृत्तिका अवलंबन करकेही उपासना शुरू करनी चाहिए। बंगालमें दशहरेके दिन आपसके पहलेके दोषोंको भूलकर क्षमायाचनाके लिए एक दूसरेसे मिलनेका रिवाज़ है; जैनियोंमेंभी पजूसणके पहले दिन क्षमा मांगी जाती है। ऐसा करनेसे हृदयपर क्रोधके कारण हुवा दवाव दूर हो जाता है।

जिस मनुष्यपर क्रोध आया हो, उसके पास, क्रोध शांत होनेके बाद जाकर आत्मदोष स्वीकार करनेसे क्रोधका दमन होता है। ऐसा करनेसे अपने ऐसे स्वभावपर पश्चाताप होगा, और फिर गुस्सा आनेकी संभावना कम होगी।

क्रोधसे अपनेसे हुए दोषोंको याद दिलानेवाले वाक्योंको घरकी दीवारपर लिखकर रखनेसेभी क्रोधको वशमें करनेके लिए सहायता मिलती है।

क्रोधका आवेश आनेके समय निर्जन स्थानमें जाकर चुपचाप बैठ जानेसे भी क्रोधका असर चला जाता है।

एक महात्मा क्रोधका आवेश आनेके समय एकदम एकांत जगहमें जाकर चुपचाप बैठ गया। उससमय उसका पुराना साथी एक साधु— उससे मिलने आया। इस साधुने उसको दो तीन वार पुकारा परन्तु उसने कोई जवाब नहीं दिया। आनेवाले साधुको यह बहुत बुरा लगा, और वह

दूसरे कमरेमें जाकर बैठ गया। थोड़ी देरमें जब वह महात्मा क्रोधके असरको कुछ दबा सका, तब अपने साथीके पास आकर माफी मांगी और कहने लगा, कि तुमको बुरा तो लगा होगा, लेकिन तुमने मुझे जब पुकारा तब मेरेमें क्रोधरूपी चांडालका प्रवेश था, और मैं उसको बाहर निकालनेके लिए प्रयत्न कर रहा था। उस चाण्डालके दूर होनेसे अब मैं पवित्र बना हूँ।

क्रोधके कारणोंकी उपेक्षा करनेसेभी क्रोधको वशमें किया जा सकता है। "किसीने मेरी निन्दा की है तो उससे मुझे क्या नुकसान हो सकता है?" ऐसा विचार करके उसकी ओर ध्यान नहीं देनेसे अथवा उसकी तरफ उपेक्षाका भाव रखनेसे क्रोध उत्पन्न नहीं हो सकता। इसके उपरात वास्तवमें अपनाही कुछ दोष तो नहीं है, यह मालूम करनेके लिए आत्म-निरीक्षण करना चाहिए, और यह मालूम करके अतमें यदि अपना दोष मालूम पड़े तो उसको दूर करनेके लिए पूरा प्रयत्न करना चाहिए।

जिस मनुष्यको दृढ़ विश्वास है, कि सत्यमेव जयते नानृतम्, वह मनुष्य कभीभी अपनी झूठी निन्दा सुनकर विचलित नहीं होता। विदेशमें स्वामी विवेकानन्दके विरुद्ध कुत्सितप्रवाद फैलानेमें क्रिश्चियन मिशनरियोंने कुछभी कमी नहीं रक्खी थी, तो भी कभी स्वामीजीने, क्रोधके वश होकर उनको जवाब देनेमें अपनी शक्तिका उपयोग नहीं किया। एकबार उनके एक मित्रने जवाब देनेके लिए प्रार्थना की, तो स्वामीजीने उससे कहा, कि सत्यकीही जय होती है ऐसा यदि अपना दृढ़ विश्वास हो, तो फिर ऐसी झूठी बातोंका जवाब देनेकी जरूरतही नहीं रहती; किन्तु इसतरह शक्तिका अपव्यय न करके किसी अच्छे काममें उसका उपयोग करनाही इष्ट है।

क्रोधके आवेगके समय मस्तकपर ठंढा पानी डालनेसेभी लाभ होता है।

जिसके ऊपर क्रोध किया जाता है उसकोभी क्रोधसे नुकसान होता है। बालकोंके तथा शिष्योंके अयोग्य बर्तावके लिए बहुतसे मा बाप तथा गुरुजन उनके ऊपर गुस्से होकर शारीरिक दंड देते हैं, इससे फायदा होनेके

बदले उलटा नुकसान होता है। बालक तथा शिष्योंका प्रेम कम हो जाता है, और इसके बदले उनमें कठोरता आती है, इसलिए ऐसे प्रसंगोंमें उनसे नरमाई तथा प्रेमपूर्वक काम लेनेमे दोनोंको लाभ होता है।

गृहस्थाश्रमियोंको कितनीही वार क्रोध करनेकी आवश्यकता पड़ती है, उस समय अंतःकरणमें क्रोध न करके, बाह्य बर्तावमेंही उसका दिखाव मात्र करना चाहिए। इस संबंधमें श्रीरामकृष्ण परमहंस सर्पका दृष्टान्त देते थे, जो ध्यानमें रखने योग्य है :—

एक खेतमें बिलके अन्दर एक सर्प रहता था वह ऐसा क्रोधी था, कि उस रास्तेसे जो कोई जाता उसको काटे बिना रहताही नहीं। एकसमय एक ब्रह्मचारी उस रास्तेसे निकला, सर्प उसकोभी डसनेके लिए दौड़ा पर वह ब्रह्मचारी सर्पका मंत्र जानता था इससे सांपका कुछ वश नहीं चला; और उसके पास शांत होकर उसको ठहरना पड़ा। ब्रह्मचारीने उसको बिना कारण दूसरोंको हानि न पहुँचानेका उपदेश दिया और कहा, कि ऐसे पापकर्मोंके लिए तेरेको पीछे कठोर दण्ड भोगना पड़ेगा। सर्पने अपनी भूल समझी, और इन पापोंका प्रायश्चित हो ऐसा मार्ग बतानेके लिए उसने ब्रह्मचारीसे विनती की। उस ब्रह्मचारीने एक मंत्र सिखाया, और कहा, कि इस मंत्रका जप करनेसे तेरे पापोंका नाश होगा। अब आइन्दासे किसीको काटना नहीं, जा, तेरा कल्याण होगा।

ब्रह्मचारी ऐसा कहकर अपने रास्ते चला गया और सर्पभी तबसे उसके उपदेशानुसार बर्ताव करने लगा। सर्प अब काटता नहीं ऐसा मालूम पड़नेसे लोग उस रास्तेसे आने जाने लगे, और एक दिन तो लकड़ी पत्थरोंसे खूब मार मारकर उसको मरणतुल्य कर दिया। सर्पको मरा हुआ समझ उसको फेंककर सब वहांसे चले गए। थोड़ी देरमें सर्पको होश आया और बहुत मुश्किलसे वह अपने बिलमें पहुंचा। इसके बाद डरके मारे वह केवल रातकोही बाहर निकलकर फलमूलादिका आहार करता और दिनभर

बिलमेंही पड़ा रहता। बहुत दिनों बाद ब्रह्मचारी फिरसे उसी रास्ते आ निकला और सर्पको बाहर न देखकर, बिलके पास आकर जोरसे पुकारा। सर्पने धीरे धीरे बाहर आकर अपने गुरुको नमस्कार किया। ब्रह्मचारीने उसको मुरदेकी तरह देखकर ऐसा होनेका कारण पूछा। उसने जवाब दिया, कि आपके उपदेशानुसार मैं किसीको काटता नहीं हूँ, इससे सब मुझे हैरान करते हैं, जिस कारण मेरी ऐसी दुर्दशा हुई है। ब्रह्मचारीने कहा, कि मैंने तुझे काटनेकी मनाही की है यह सच है लेकिन फुफकारा मारनेकी मनाही नहीं की। जो तू फुफकारता तो तेरी ऐसी दुर्दशा नहीं होती।

गृहस्थोंके लिए यह उपदेश लागू पड़ता है। कभी कभी संसारमें इस प्रकारसे फुफकारा करनेकी आवश्यकता पड़ती है, इसलिए ऐसा करनेमें किसीभी तरहका दोष नहीं, परतु अतःकरणमें द्वेषभावको स्थान नहीं होना चाहिए।

लोभ

काम-क्रोधकी तरह लोभभी मनुष्योंका परम शत्रु है। लोभके कारणही काम-क्रोधादिकी उत्पत्ति होती है, क्योंकि लोभसेही वस्तुप्राप्तिकी कामना और उसके प्राप्त होनेमें विघ्न पढनेसे क्रोध उत्पन्न होता है। इससे मालूम पड़ता है कि कामक्रोधादि मानव-शत्रु परस्पर सबध रखनेवाले हैं। "लोभसे पाप और पापसे मृत्यु होती है।" थोड़ा विचार करनेसे इस वाक्यकी सत्यता समझमें आ जायगी।

हितोपदेशमें कहा है कि :—

> लोभात्क्रोधः प्रभवति लोभात्कामः प्रजायते।
> लोभान्मोहश्च नाशश्च लोभः पापस्य कारणम्॥

लोभके कारण मनुष्य अच्छे बुरेका ख्याल भूल जाता है, और मोहांध होकर अपने हाथसेही अपना नाश करता है। धन, मानादिका लोभ तथा जीभका स्वाद मनुष्यका अनिष्ट करता है। धनके लोभसे मनुष्य उसको

प्राप्त करनेके लिए अनेक प्रकारके असत् उपायोंका अवलंबन करता है; अपने भाई अथवा माता पिताकाभी उसके लिए नाश करते हिचकिचाता नहीं, अपनेमें पूर्ण विश्वास रखनेवाले मित्रकोभी दगा देदेता है, और अनाथ बालक तथा विधवाकी संपत्तिभी हजम करजाता है।

लोभसे प्रज्ञाकाभी नाश होता है। प्रज्ञाके नाशसे लज्जाका नाश और लज्जाके नाशसे धर्मका नाश होता है। धर्मके नाशसे जो कुछभी कल्याणप्रद है सो सब नष्ट हो जाता है। लोभसे बुद्धि विचलित होनेसे असत् विषयोंकी ओर तृष्णा पैदा होती है, और इस तृष्णासे इहलोक तथा परलोक दोनोंमें दुःखही भोगना पडता है। ऐसे भयंकर शत्रुका नाश करनेके लिए सबको कटिबद्ध हो जाना चाहिए।

जीभका स्वादिष्ट पदार्थ खानेका लोभभी अति हानिकारक है। भिन्न-भिन्न प्रकारके स्वादिष्ट पदार्थोंके खानेसे हजम करनेकी शक्ति चली जाती है, और इससे शरीर दुर्बल तथा व्याधिग्रस्त होता है। दुर्बल शरीरमें कामक्रोधादि शत्रुओंका बल ज्यादा बढ़ता है और मनभी विशेष चंचल हो जाता है। ऐसे मनुष्य इनके वेगको रोक नहीं सकते, और इस प्रवाहमें बहकर अनेक प्रकारके पापकर्म करते हैं। भागवतमें कहा है, कि जिसने जिह्वाको वशमें कर लिया है, उसने आधी इन्द्रियोंको वशमें कर लिया है।

विषय भोगनेकी लालसा मनुष्यको बंधनमें डालती है। हाथी जैसा महाबलवान प्राणीभी इस लालसाके वश होकरही मनुष्यके कब्जेमें आता है। जो-जो लालसा अंतःकरणमें पैदा हो उस-उसके प्रति धिक्कार उत्पन्न करनेका प्रयत्न करनेसे अनिष्ट परिणाममेंसे बचा जा सकता है। सांसारिक विषय अनित्य है, दुःखकर है, ऐसी भावनासे उनमें अप्रीति उत्पन्न होती है। हमेशा विषयकी अनित्यताका विचार करनेसे लोभके सिकंजेमेंसे छूटा जा सकता है।

बहुतसी दफे यशादिका लोभ मनुष्यके पाससे अच्छे काम करवाता है,

परंतु-इस प्रकारकी लालसाभी-उसको-बंधनमें डालती है। यशके लोभी मनुष्यको यशादिके पीछे दौड़ते हुए होनेसे अच्छे-बुरेका ज्ञान नहीं रहता, और जिनसे यशकी प्राप्ति न हो ऐसे सत्कर्मोंको करनेसे दूर रहता है। यशकी इच्छासे किये हुए कार्योंसे यदि कभी यश नहीं मिलता है, तो उसको क्रोध आजाता है, और वह अनिष्ट करने तकको तैयार हो जाता है। कितनीही बार तो लोभसे मनुष्य ऐसा अंधा हो जाता है, कि देश-द्रोही बनकर देशकी महान आकांक्षाओंके फलीभूत होनेमें भी विघ्न डालते नहीं हिचकिचाता और स्वधर्मकाभी त्याग करता है।

नानाप्रकार अधर्मके मूलस्वरूप, अनेक प्रकारकी अनिष्ट प्रवृत्तियोंके जनकरूप इस लोभको सर्वदा अपनेसे दूर रखनेका हर प्रकारसे प्रयत्न करना चाहिए।

मोह

मोह अज्ञानकाही एक रूप है, अनात्ममें आत्मबुद्धिको शास्त्रमें मोहरूपसे वर्णन किया है। शरीरादि अनित्य वस्तुओंमें नित्य ज्ञान होनेसे 'यह सब वस्तुएँ मेरी हैं, और इनका कभी नाश नहीं होगा'। ऐसा भ्रम उत्पन्न होता है। इसतरहकी गलत धारणासे विषियोंके प्रति उत्पन्न हुई गाद प्रीतिका नाम मोह है। इसतरहके मोहसे बहुतसे पापोंका जन्म होता है, और अन्तमें अनेक दुःख भोगने पड़ते हैं। मोहसेही वस्तुके लिए लोभ उत्पन्न होता है, और फिर उसमेंसे उसकी प्राप्तिके लिए काम यानी तृष्णा जागती है, यह तृष्णाही सब अनर्थोंका मूल है।

यह मेरी मां, यह मेरा बाप, यह मेरी स्त्री, ये मेरे बालक, यह मेरी संपत्ति—इसप्रकारकी ममत्व बुद्धिही मोहरूप है, और ऐसे मोहमें फँसाहुआ मनुष्य कभीभी सच्चे सुखको नहीं भोग सकता। जिनमें ममत्व बुद्धि है, उन पदार्थोंके नाशसे कितना महादुःख होता है, यह तो हम सब जानतेही हैं, इसलिए यह ममत्व जितना बने कम करना चाहिए। विषयकी

अनित्यताका चिंतन मोहमेंसे बचनेका सरल उपाय है।

भगवान श्रीशंकराचार्य कहते हैं कि :—

का तव कान्ता कस्ते पुत्रः संसारोऽयमतीव विचित्रः।
कस्य त्वं वा कुत आयातस्तत्त्वं चिन्तय तदिदं भ्रातः॥

"तेरी स्त्री कौन? तेरा पुत्र कौन? यह संसार बहुत ही विचित्र है। तू किसका है? कहाँसे आया है? हे भाई! इस तत्वका तू विचार कर।"

ऐसे विचारोंसे विषयके प्रति वैराग्य उत्पन्न होता है, और वैराग्य द्वारा सत्यज्ञानका उदय होकर परमात्माके प्रति भक्तिका जन्म होता है।

अनित्य पदार्थोंकी वासनाका क्षय होनेसे चित्तविकारका नाश हो जाता है, और इससे संसारमोहरूपी कुहरा उड़ जाता है। इस मोहरूपी कुहरेका नाश होनेसे शरद् ऋतुके आकाशकी तरह हृदय निर्मल बनता है, और उसमें अद्वितीय ब्रह्मका प्रकाश पड़ता है।

मनुष्य चाहे जहाँ जाय, किन्तु उसको विषयोंके बीच ही रहना पड़ता है, इसलिए किसतरह बर्ताव करनेसे विषयोंका मोह असर नहीं कर सकता, यह समझानेको भगवान श्रीकृष्ण कहते हैं कि :—

तस्मादसक्तः सततं कार्यं कर्म समाचर।
असक्तो ह्याचरन् कर्म परमाप्नोति पूरुषः॥

इसलिए हे अर्जुन! आसक्तिरहित होकर तू सब कर्म कर, क्योंकि आसक्तिरहित कर्म करनेसे मनुष्य परमपदको प्राप्त होता है।

योगवासिष्ठमें भी कहा है कि :—

त्यक्त्वाहंकृतिराश्वस्तमतिराकाशशोभन:।
अगृहीतकलङ्काङ्को लोके विहर राघव॥

"हे राघव! मैं करता हूँ यह अभिमान छोड़कर तथा कार्यके फलाफलके

संबधमें उदासीन होकर शांतचित्तसे और जिस तरह आकाश सर्वत्र शोभा पाता है, और किसी कलक द्वारा कलकित नहीं होता, उसी तरह तू ससारमें सब काम कर।"

जनकादि जीवन्मुक्तोंने भी अनासक्त रहकर ससारमें लोककल्याणके लिए कर्म किए थे, इससे ज्ञानी पुरुषोंको भी उत्तम कर्मोंका आचरण करके सर्वसाधारणके लिए दृष्टान्तरूप होना चाहिए।

गीताजीमें कहा है कि —

कर्मणैव हि संसिद्धिमास्थिता जनकादय'।
लोकसंग्रहमेवापि सपश्यन् कर्तुमर्हसि ॥

जनक वगैरह महापुरुषोंने कर्म द्वारा ही परम सिद्धिकी प्राप्ति की थी। उसी प्रकार हे अर्जुन। लोकसग्रहके लिए, अर्थात् लोगोंको धर्मपथपर चलानेके लिए तुझे कर्म करना चाहिए, क्योंकि श्रेष्ठ पुरुषोंका आचरण साधारण वर्गके लिए दृष्टान्तरूप होता है।

न मे पार्थास्ति कर्त्तव्यं त्रिषु लोकेषु किंचन।
ना नवाप्तमवाप्तव्यं वर्त एव च कर्मणि ॥

भगवान कहते हैं कि —'हे पार्थ। मेरेको तीनों लोकोंमें कुछ भी कर्त्तव्य नहीं है, कोई अप्राप्त वस्तु प्राप्त नहीं करनी है, फिर भी मैं कर्म करता हूँ, क्योंकि यदि मैं कर्म न करूँ तो सब मनुष्य इस मार्गका अनुसरण करेंगे और ऐसा करनेसे सबका नाश हो जायगा।'

ससारमें आसक्त हुए विना किसतरहसे रहना, यह समझाते हुए श्रीरामकृष्णदेवने कहा है कि —

"धनवान पुरुपके घरमें जिसतरह दासी रहती है, उसीतरह हम सबको संसारमें रहना चाहिए। जबतक सेठकी नौकरी करती है तबतक वह दासी सेठके सब बच्चोंको, 'मेरा राम, मेरा हरि,' ऐसा कहकर पुकारती है,

लेकिन उसका मन तो उसके अपने बच्चोंपर ही रहता है। इसीतरह संसारके सब कर्म करते हुए अपना दिल तो भगवानके चरणों में ही रखना चाहिए।"

वसिष्ठ भगवानने भी रामचन्द्रजीको इसीतरह संसारमें रहनेका उपदेश दिया था।

अन्तःसंत्यक्तसर्वाशो वीतरागो विवासनः।
बहिः सर्वसमाचारो लोके विहर राघव ॥

"हे राघव! सर्व आशा, आसक्ति और वासना रहित होकर बाहरके सब काम करो, यानी भगवानमें चित्त जोड़कर संसारमें विचरण करो।"

साधारण जन समाज प्रेम और मोहका भेद नहीं समझ सकता, वे तो मोहको ही प्रेमरूपसे जानते हैं। लेकिन मोहमें जो संकुचित भाव है, वह प्रेममें नहीं होता। प्रेम तो अति विशाल और पवित्र है, मोहमें मलिनता भरी है; प्रेम सुखकारक है, मोह दुःखका मूल है, प्रेम मुक्तिका कारण है, मोह बंधनमें डालनेवाला है।

अपने सगे-संबंधी और संपत्तिके प्रति स्वार्थयुक्त प्रेमको मोह कहते हैं। माताका अपने बालकके प्रति प्रेम करना मोह है। परंतु यदि वैसा ही भाव दूसरोंके बच्चोंके प्रति भी हो तो वह प्रेमरूप होता है। मातापिता अपने संतानोंमें अपने-पनके भावसे जो आसक्ति रखते हैं, सो मोहरूप ही है, और उसमेंसे दुःखका जन्म होता है। लेकिन यदि उदार भावसे विश्वके सब बालकोंके प्रति वैसा ही प्रेम हो तो यह ममता प्रेमस्वरूप बनती है, और इससे परमसुखकी प्राप्ति होती है।

अयं बन्धुरयं नेति गणना लघुचेतसाम्।
उदारचरितानां तु वसुधैव कुटुम्बकम् ॥

'यह मेरा बंधु है, वह मेरा बंधु नहीं, संकीर्ण मनवाले मनुष्य ही

इसप्रकारकी भावना रखते हैं। उदार प्रकृतिवाले मनुष्य तो दुनियाके सारे मानवोंको अपने कुटुम्बी ही मानते हैं और उसी मुताबिक व्यवहार भी करते हैं।"

ऊपरके उपदेशका पालन करनेवाला वास्तवमें महात्मा ही होता है। कदाचित् ऐसी शका उत्पन्न हो, कि दुष्ट और अनीतिपरायण व्यक्तियोंको भी क्या अपने बधुकी तरह मानना चाहिए? इसका जवाब यह है, कि सत्य, धर्म, और नीतिकी प्रतिष्ठाके लिए उनके विरुद्ध आचरण करना चाहिए, पर अतरमें उनके प्रति किसी भी तरहका द्वेषभाव नहीं रखना चाहिए। अपना विरोधतो दुर्गुणके साथ ही है, व्यक्तिके साथ नहीं। इसलिए वह व्यक्ति जब अपना दुष्ट स्वभाव छोडदे तो तुरत ही अपने बधुकी तरह उसके साथ व्यवहार करें।

उपरोक्त भाव साधनेसे मोह दूर होकर सार्वजनिक प्रेमका उदय होता है। भगवान बुद्धने समारत्याग किया तब अपने स्त्री पुत्रका मोह छोडते समय जिस भावका अवलबन किया था, उसका विचार करनेसे सच्चे प्रेमका स्वरूप समझमें आयगा —

"I loved thee most, because I loved so well all living souls"

(Light of Asia)

'ब्रह्माडमें वसनेवाले समस्त जीवोंपर मुझे इतना अधिक प्रेम था, जिससेही मैं तुझे अत्यत प्रेमसे चाह सका हू।"

जिस समय सारथि छन्दकने बुद्धदेवसे कहा कि, तुम तो विश्वप्रेमके लिए अपने स्त्री, पुत्र, बधु, बाधव, राज्य, सपत्ति आदिका त्याग करके जाते हो, पर तुम्हारे जानेसे उन सबको कितना कष्ट होगा, क्या इसका कुछ विचार किया? उनको ऐसा कष्ट देना यह क्या तुम्हारे प्रेमकी निशानी है?

इस प्रश्नका जवाब देते हुए बुद्धदेव कहते हैं कि .—

"Friend, that love is false,
Which clings to love for selfish sweets of love;
But I, who love these more than joys of mine—
yea, more than joys of theirs—depart to save
Them and all flesh, if utmost love avail."

"भाई ! जो प्रेम अपनी सुखलालसाकी तृप्तिके लिए अपने प्रेमास्पदको पकड़कर रहता है, वह प्रेम सच्चा प्रेम नहीं है। मै तो मेरे कुटुम्बियों को मेरे अपने सुखसे ज्यादा ही नहीं, बल्कि उनके सुखसे भी ज्यादा चाहता हूं, इसीलिए ही उन सबको और जगत्के दूसरे जीवोंको दुःखमेंसे मुक्त करनेके लिए मैं जाता हूँ, जो प्रेमकी पराकाष्ठा द्वारा ऐसा हो सकता हो तो।"

इसप्रकार विश्वप्रेमी बुद्धदेवने अपने क्षुद्र संसारका त्याग करके निष्काम सेवा और प्रेमद्वारा समग्र संसारको अपना बना लिया। ऐसे महात्माओंके चरण-चिन्होंपर चलनेवालेका कल्याण ही होता है, इसमें संदेह नहीं। इसप्रकारके प्रेमके संचारके लिये प्रेमस्वरूप परमात्माको निरन्तर प्रार्थना करनी चाहिए, कि "प्रभु ! मेरे मोहांधकारको दूर करके मेरे हृदयमें आपकी निर्मल ज्योतिको पूर्णरूपसे प्रकाशित करो।"

मद्

मदोऽष्टादशदोषः स्यात् पुरा यः प्रकीर्तितः।
लोकद्वेष्यं प्रातिकूल्यमभ्यसूया मृषा वचः॥
कामक्रोधौ पारतन्त्र्यं परिवादोऽथ पैशुनम्।
अर्थहानिर्विवादश्च मात्सर्यं प्राणिपीडनम्॥
ईर्ष्या मोहोऽतिवादश्च संज्ञानाशोऽभ्यसूयिता।
तस्मात्प्राज्ञो न माद्येत सदाह्येतद् विगर्हितम्॥

(महाभारत—उद्योग पर्व—सनत्सुजात और धृतराष्ट्र सं

"मदमें अठारह प्रकारके दोष रहते हैं। मदांध मनुष्य लोगोंके विद्वेषका कारण हो जाता है। अभिमानवश होकर नाना प्रकारकी कल्पना करके वह दूसरोंको न जचे ऐसा आचरण करता है, दूसरोंके गुणकी प्रशंसा सुन नहीं सकता, अपनी श्रेष्ठता बतानेके लिए दूसरोंके सबधमें मिथ्या प्रवाद फैलाता है, जिस वस्तुके सबधमें अपना अहकार होता है, उस वस्तुमें उसकी बहुत आसक्ति रहती है, और उसमें किसी तरहकी भी रुकावट आनेसे एकदम क्रोधित हो जाता है, जो उसकी प्रशसा करते हैं उनका वह दास हो जाता है, दूसरोंकी निंदा करनेके लिए उसकी जीभ ललचाती रहती है, कुछ कपट करनेकी उसको आवश्यकता पड़ती है, अपने अहंकारकी तृप्तिके लिए वह बहुत पैसा बरबाद करता है, दूसरोंके साथ वादविवाद करता रहता है, दूसरेकी लक्ष्मी देखकर अत.करणमें जल जाता है, प्राणियोंको पीड़ा देनेमें उसको आनन्द आता है, ईर्ष्या उसके प्राणमें घर कर बैठती है, चित्त मोहग्रस्त हो जाता है, और अहंकारवशात् लोकमर्यादाका उल्लंघन करके वाक्यप्रयोग किया करता है, सदसद् ज्ञानका लोप हो जाता है, और दूसरोंसे द्रोह करनेकी उसको आदत पड जाती है। विवेकी पुरुषोंको कभी अहकार नहीं करना चाहिए, क्योंकि यह अति हानिकारक है।"

"Blessed are the poor in spirit, for theirs is the kingdom of heaven"

(Sermon on the mount.)

"निरहकारी नम्रात्माओंको धन्य है, क्योंकि स्वर्गका राज्य उनके लिएही है।"

अहकार जन्म-मृत्युका कारणरूप होनेसे इसके ऊपर जरूर विजय प्राप्त करनी चाहिए। अहकारकी उत्पत्ति अज्ञानमेंसे होती है। धन, मान, बुद्धिका अहकार—यह सब अल्प बुद्धिका परिणाम है। अगर हम अपनेसे ज्यादा यशस्वी, धनाढ्य, और बुद्धिमान व्यक्तिका विचार करें तो इसप्रकारका

अहंकार अपनेआप नष्ट हो जाता है। भगवानके सामर्थ्यका विचार करनेसे भी अहंकार नहीं टिक सकता। भगवानकी महाशक्तिका पार नहीं, उनके सामने हमारी क्या हस्ती ? जीसस क्राइस्ट कहते थे, कि एक काले बालको सफेद करनेका बल भी अपनेमें नहीं, तो फिर अहंकार किस बातका ?

उपनिषद् में भी यह विषय वार्ता द्वारा समझाया है :—

एक समय देवताओं और असुरोंके बीच युद्ध हुआ, उसमें देवता जीते। देवता घमंडमें आने लगे कि हमने ही बलसे जय प्राप्त की है। वे भूलगए कि परमेश्वरकी कृपासे ही उनकी जीत हुई थी। अंतर्यामी परमात्मा ने उनके इस वृथाभिमानको देखकर इसको दूर करनेका निश्चय किया। वे एक अद्भुत रूप धारण करके देवोंके समक्ष आ खडे हुए। देवता उनको पहचान नहीं सके, इसलिए सबने मिलकर अग्निदेवसे कहा कि, "हे जातवेद। हमारे समक्ष खडे हुए ये पूज्य व्यक्ति कौन हैं ? इसकी तुम तहकीकात करो।"

अग्नि उनके पास गया, तब उस व्यक्तिने पूछा कि "तुम कौन हो ?"

अग्निने जवाब दिया कि "मैं अग्नि हूँ, जातवेद हूँ।"

उस व्यक्तिने फिर पूछा कि, "तुम्हारेमें क्या शक्ति है ?"

अग्निने कहा, कि "मैं पृथ्वीकी सब वस्तुओंको जला सकता हूँ।"

यह सुनकर उस व्यक्तिने उसके सामने एक तिनका डाल दिया, और अग्निसे कहा कि, "सबको जलानेवाला अग्नि ! ज़रा इसको तो जलाओ।" परतु अग्नि अपनी सारी शक्तियोंका उपयोग करनेपर भी उसको जला नहीं सका। वह निराश हो वापस आया और देवताओंके पास आकर कहने लगा कि, "मैं इस व्यक्तिको पहचान नहीं सका।"

फिर वायु गया, वह भी उस तिनकेको उड़ा नहीं सका; और थककर वापस आया। देवताओंने मिलकर इन्द्रको मालूम करनेके लिए भेजा,

पर उसको आते देखकर वह मूर्ति अंतर्धान होगई, और उसकी जगह विद्यारूपिणी उमादेवी आ उपस्थित हुई। उसको देख इन्द्रने विनयसहित पूछा कि, 'अभी अन्तर्धान हुए वे महापुरुष कौन थे?"

उमादेवीने जवाब दिया —

सा ब्रह्मेति होवाच, ब्रह्मणो वा एतद् विजये महीयध्वमिति ततो हैव विदाञ्चकार ब्रह्मेति ॥

(केनोपनिषद्)

"वे ब्रह्म थे, उनके ही बलसे तुम जययुक्त होकर महिमावान हुए हो।" इससे इन्द्रको मालूम हुआ कि वे ब्रह्म थे।

देवताओंका सब अहंकार नष्ट होगया, और उनकी समझमें आगया कि हमारी विजय हमारी शक्तिसे नहीं हुई थी, पर वह तो परमेश्वरकी कृपाका ही परिणाम था।

अहंकारी पुरुषकी यह धारणा होती है, कि उसके जितना मानका पात्र दूसरा कोई नहीं। साधारण बातमें भी उसको अपमान मालूम होने लग जाता है। दूसरे भी उसके इस स्वभावको जानकर चिढ़ानेके लिए उसको मान नहीं देते, और इसतरह अपना अहंकार उसके महादुःखका कारण बनजाता है। दूसरोंको मान पाते देखकर भी उसके दिलमें दाह लग जाती है, इस ईर्ष्याके कारण उनके साथ निष्कारण वैर बाँधता है। किसी सभामें वह हाजिर होता है तो उसका चित्त, मुझे कौन मान देता है और कौन नहीं देता, इसके ऊपर ही लगा रहता है, और बहुतसी वक़्त तो झूठी कल्पनाएँ करके भी सुख-दुःख भोगता है।

जिसका मन ईश्वरकी ओर लगा हुआ है वह सांसारिक मानापमानसे चलायमान नहीं होता। दूसरे व्यक्तियोंके गुणोंकी ओर नजर रखनेसे, और अपने दोषोंका विचार करनेसे भी अहंकार कम होता है। जो मनुष्य अपने दोष देखते हैं, उनको दूसरोंके अवगुणोंका विचार करनेका समय ही

नहीं मिलता, और इससे नम्रता, सुजनता आदि गुण उन व्यक्तियोंमें स्वाभाविकतया ही वास करते हैं।

अहंकारके विषयोंके विनाशीपनेका विचार करनेसे भी अपना उन विषयोंसे हुआ अभिमान कम पड जाता है।

अहंकारसे छूटनेके लिए निरंतर प्रार्थना करनी चाहिए कि, "हे अन्तर्यामी! मेरे अतःकरणका अहंकार दूर करके उसको उदारता, विनय, प्रेम आदि उच्चकोटिके सद्‌गुणोंका निवास-स्थान बनाओ।"

मात्सर्य

दूसरोंकी लक्ष्मी, सौंदर्य, सद्‌गुणादिको देखकर ईर्ष्या करनेका नाम मात्सर्य है।

संकीर्ण बुद्धि ही मात्सर्यका प्रधान कारण है। दूसरेको सुखसंपत्ति भोगते देखकर, "मुझे यह क्यों नहीं?" अथवा, "मुझे है पर उसको क्यों?"—ऐसी बुद्धिसे मात्सर्यवाला मनुष्य उसके प्रति ईर्ष्याभाव प्रकट करता है। दूसरोंके दोष-दर्शन तथा दोष कीर्तन यह मात्सर्यके सहचर हैं। जिसके हृदयमें इस प्रकारके ईर्ष्याभाव है, वह कदापि सुखी नहीं हो सकता; उसके मनमें सदा असंतोष रहता है, और उसकी तबीयत भी अच्छी नहीं रहती। ईर्ष्यासे जिसका चित्त जलता रहता है, उसको अन्न अच्छी तरहसे नहीं पचता, और उसकी मुखमुद्रा हिंसक पशुके जैसी हो जाती है। ऐसे महाशत्रुका दमन करना प्रत्येक मनुष्यका कर्तव्य है।

जिस मनुष्यकी धनसंपत्ति आदिको देखकर ईर्ष्याभाव उत्पन्न होता हो, उसकी ओर प्रेम-बुद्धि करनी चाहिए, और ऐसा विचारना चाहिए, "दूसरोंके पास धन-संपत्ति है, यह बहुत अच्छा है, और भी उनकी धन-संपत्तिमें वृद्धि हो ऐसा मैं चाहता हूं, मेरेसे भी वे अधिक सुखी हों, ऐसा मैं चाहता हूं।"

दूसरोंके दोष दर्शन और दोष-कीर्तनके बदले उनके सद्‌गुणोंकी तरफ ध्यान देनेसे और उनकी प्रशंसा करनेसे विरोधी भाव दूर होगा। "प्रत्येक मनुष्यमें दोष और गुण दोनों हैं, किसीमें दोष अधिक होता है, तो किसीमें गुण अधिक पर ये सब सदा एकसे नहीं रहते। स्वाभाविकतया सबमें कुछ न कुछ दोष है, मेरेमें भी थोड़ा बहुत तो दोष होना ही चाहिए"—ऐसे विचारोंसे भी ईर्ष्या-बुद्धिका लोप होता है।

जिस सौंदर्य, ऐश्वर्यादिको देखकर दूसरोंको आनंद होता है, उसे देख ईर्ष्यापरायण व्यक्तिको दुख होता है, इससे ऐसे विषयोंमें दूसरोंके आनन्द-में भाग लेकर, उनका सुख मेरा ही सुख है, ऐसा उदारभाव ग्रहण करनेसे ईर्ष्याभाव अपनेआप चला जाता है, और उसके बदले प्रेम और पूज्य-बुद्धि उत्पन्न होती है।

मन और तनकी दुर्बलता भी ईर्ष्याभावका कारण है। शारीरिक दुर्बलता व्यायाम करनेसे दूर होती है, तथा उच्च विचारोंके सेवनसे और उच्च मानसिक बलवाले व्यक्तियोंके संसर्ग, तथा उनका सतत चिंतन करनेसे मनकी दुर्बलता दूर होती है।

अपनेमें ईर्ष्याभाव है, और वह अति अनिष्टकर है, ऐसा समझकर उसको दूर करनेके लिए भगवानसे दया याचना करना भी सरल और उत्तम उपाय है।

उच्छृङ्खलता

मन नियमवश न होनेसे उच्छृङ्खलताका जन्म होता है। उच्छृङ्खलता-को दूर करनेके लिए सब काम नियमसे करना चाहिए। नियमपूर्वक खानेसे, पीनेसे, कसरत करनेसे, प्रार्थना करनेसे उच्छृङ्खलता दूर हो जाती है। कपड़े जहाँ तहाँ फेंकना, घरकी सब वस्तुएं अव्यवस्थित रखना, सोने तथा उठनेके समयमें अनियमित रहना, किसीके साथ बात करने बैठे तो अंत ही न आना, मानो कि जिसको कर्तव्याकर्तव्यका बोध नहीं—यह सब अनियमितता—

उच्छृङ्खलताकी निशानी है। जैसे सेनापति अपनी सेनाको शृंखलाबद्ध या अंकुशमें न रक्खे, सर्व सैनिकोंको अपने अपने काममें नियोजित न करे, और उनके अयोग्य वर्तावको सहन करले, तो सैनिकोंपर अनुशासन नहीं होनेसे निश्चय ही उसकी हार होती है, वैसे ही मनुष्य यदि इन्द्रियगणको वशमें न रक्खे, उनके दोषोंके प्रति नजर न रक्खे, और मनको वशमें नहीं रक्खे तो जीवन-संग्राममें अवश्य उसकी पराजय होती है। प्रकृतिके राज्यमें भी सब पदार्थ—सूर्य चद्रादि ग्रह, तारे नियमके आधीन ही वर्तते हैं, और इसीसे जगत्के व्यवहारमें किसी भी तरहकी अड़चन नहीं आती; पर यदि उनमें किसी कारणसे फेरफार हो जाय तो दुनियाका नाश हो जाय।

कठोपनिषद् में कहा है कि :—

> भयादस्याग्निस्तपति भयात्तपति सूर्यः।
> भयादिन्द्रश्च वायुश्च मृत्युर्धावति पचमः ॥

ईश्वरके भयसे ही अग्नि, सूर्य, इन्द्र, वायु और मृत्यु आदि देव, नियमपूर्वक अपने अपने काम कर रहे हैं, और इससे ही ससारके सब व्यवहार अच्छी तरहसे चलते हैं। मनुष्यको भी ईश्वरका डर रखकर नियमोंका पालन करना चाहिए। यदि अल्प जीवनमें अलभ्य लाभ साध लेना हो तो अवश्य इस जीवनको नियमवश रखना चाहिए, जिससे उच्छृङ्खलतासे उत्पन्न हुई सारी अनियमितता दूर होकर कल्याणकारी प्रवृत्तिके लिए पूरा समय मिले, क्योंकि भगवान कर्मानुसार ही फल देते हैं।

जैसे स्वादिष्ट रसोई बनाना हो तो पहलेसे ही सब सामग्री इकट्ठी करके रखनी चाहिए, रसोई करने बैठनेके बाद सब चीजें लेनेको दौड़ादौड़ करे तो रसोई अवश्य बिगड़ती है, इतना ही नहीं पर समयपर तैयार भी नहीं होती; उसी तरह यदि जीवनकी लगाम उच्छृङ्खलताके हाथमें सौंपी तो एक भी काम अच्छी तरह व ठीक समयपर नहीं हो सकता और फिर दौड़ादौड़ करनेसे कुछ भी फायदा नहीं होता। इसलिए पहलेसे ही अपना उद्देश्य

निश्चित करके उसतक पहुँचनेके लिए सब साधनोंको यथायोग्य एकत्रित करना चाहिए, तो अवश्य लक्ष्य स्थानपर पहुँच सकोगे। श्रीमद् भगवद् गीतामें भी कहा है कि, योग. कर्मसु कौशलम् - यहाँ योग शब्दसे चित्तकी एकाग्रताको ही लक्ष्य किया है, यानी कि जिस समय जो कर्म करना हो तो उस समय उसमें सपूर्ण मन लगा देना चाहिए, जिससे वह कर्म अच्छी तरहसे सपन्न होता है, और यदि उस कार्यमें कुछ विघ्न भी आ पड़े तो उसको पार करनेकी शक्ति भी अपनेमें आती है। एकाग्रतापूर्वक कर्म करना ही कर्म करनेका कौशल है।

व्यर्थकी सांसारिक चिन्ताएँ

ससारमे धनका अभाव, अन्नका अभाव, रोगादि आपत्तियाँ वगैरह चिन्ताका कारण बन जाती हैं। यदि इन अभावोंकी ओर बेहद ध्यान दिए बिना उदासीन वृत्तिसे ससारमें रहकर अपना कर्तव्य करता रहे तो दु ख बहुत कम हो जाता है। निर्धन यदि धनवानकी तरफ लक्ष्य करता है तो उसको धनाभावका दु ख अधिक होता है, परतु अपनेसे भी अधिक निर्धनकी ओर दृष्टि रखे तो यह दु ख आसानीसे सहन किया जा सकता है।

एक मनुष्य इतना गरीब था, कि पैरमें पहननेको जूता भी न था, और इसका उसको बहुत दु.ख था; पर जब उसने दोनों पैरोंके बिना एक मनुष्य (पगु) को देखा, तो उसका दु.ख बहुत कम हो गया।

एक समय शरदीकी कड़कड़ाती ठडीमें एक मनुष्य जगलमे आ निकला, उसके शरीरपर वस्त्र नहीं था, और ठडी इतनी ज्यादा लगती थी कि सारा अग ठडा होने लग गया। एक पेड़के नीचे बैठकर वह जोरसे रोने और अपने भाग्यको धिक्कारने लगा। उस पेड़के पीछे एक कुवा था, उसमे एक अधा गिर गया था, वह इस आवाजको सुनकर बोला . -

"भाई, मेरी स्थितिका तो विचार कर। एक तो मै अधा हूँ, उसमें

फिर ऐसी ठंडमें इस कुवेमें गिरगया हूँ, और गलेतक पानीमें डूबा हुआ हूँ, बहुत मुश्किलसे हाथ टेककर खड़ा हूँ। मेरे ऐसे बुरे हालके मुकाबलेमें तेरा दु:ख तो बहुत ही कम है।"

यह सुनकर उस मनुष्यको धीरज आया और उसने उस अंधेको कुएसे बाहर निकाला। इसी प्रकार अपनेसे ज्यादा निर्बल स्थितिवाले मनुष्योंका विचार करनेसे आश्वासन मिलता है, और दु:ख सहन करनेको बल प्राप्त होता है। यहां तो जो रहे, सो रहे, बाकी चिन्ताग्निसे अकारण दहे!

जिनको दृढ़ विश्वास हो गया है, कि परमात्माका किसीके प्रति द्वेष, तथा किसीके प्रति कोई विशेष प्रेम नहीं, उसकी नजरमें तो सब बराबर हैं, और संसारका सुख दु:ख अपने अपने कर्मानुसार ही है, फिर वे अपनी अवस्थाके लिए किसीको दोष नहीं देते, अपने कर्मोपर ही लक्ष्य रखते हैं, और उनके द्वारा ही अपनी स्थिति सुधारनेका प्रयत्न करते हैं, खाली अफसोस करते हुए माथे हाथ देकर नहीं बैठे रहते।

अपनी अथवा अपनेस्वजनोंकी बीमारीमें भी प्रकृतिके नियमोंका भंग ही इसका कारण है ऐसा समझकर उसको दूर करनेकी कोशिश करनी चाहिए, व्यर्थकी हाय हाय नहीं करनी चाहिए। देहके साथ रोग लगा ही हुआ है, उसको सहन किए बिना छुटकारा है ही नहीं, इसलिए उसके लिए चिंता करके ज्यादा दु:खी होना ठीक नहीं।

व्यापारी बुद्धि

कितने ही मनुष्य ईश्वर तथा धर्मके विषयमें भी व्यापारी बुद्धिका उपयोग करनेको ललचाते हैं। उनकी धारणा होती है, कि इसप्रकार चतुराई करनेसे धर्मलाभ हो सकता है और ईश्वरको भी भुलावा दिया जा सकता है। इसप्रकारकी बुद्धिसे संसारका व्यवहार तो कदाचित् ठीक चले, पर

ईश्वरके साथ इसतरह बर्तनेसे फायदा नहीं होता।

पाप करके फिर थोड़ा बहुत दान-पुण्य करना, या थोड़े ब्राह्मणोंको जिमाना अथवा तीर्थभ्रमण या देव-दर्शन करना, इससे पापका पूर्ण क्षय नहीं होता। जबतक किए हुए पापकर्मोंके लिए वास्तविक खेद नहीं होता और ऐसे कर्म फिरसे न करनेका दृढ़ निश्चय नहीं किया जाता, तबतक पाप नहीं खिसकता। एक समय किसी भक्तने परमहंस श्रीरामकृष्णदेवको प्रश्न पूछा, कि गंगाजीमें स्नान करनेसे पाप धुल जाते हैं, यह सच है या नहीं?

परमहंसदेवने हंसकर उत्तर दिया कि "जब गंगाजीके पवित्र जलमें मनुष्य स्नान करता है तब तो पाप चला जाता है, पर घाटपरके किसी पेड़पर वह इन्तजारमें बैठा रहता है। ज्योंही वह मनुष्य गंगा स्नान करके वापस बाहर आता है कि तुरत ही उसके ऊपर कूदकर उसको काबूमें लेलेता है।" तीर्थमें स्नान करनेवाले मनुष्य पापी विचारोंको सिर्फ घड़ीभर ही अपनेसे दूर रखते है,ज्योंही बाहर आये कि तुरत ही असल स्वभावानुसार पापकर्म करनेको प्रवृत्त हो जाते है, ऐसे तीर्थ स्नान कुछ भी फायदा नहीं कर सकते, अन्तःकरणपूर्वक पापका त्याग करना ही सच्चा तीर्थ-स्नान है। निष्पाप जीवन चालाकीसे नहीं मिलता, सरल व्यापारी-बुद्धि-शून्य भक्तको ही वह सुलभ है।

उदार बुद्धि महापुरुषोंके जीवन-प्रसंगोंकी आलोचना तथा चिंतन करनेसे धर्मके विषयमें ऐसी हिसाबी बुद्धि रखनेकी आदत दूर होती है। जैसे पारसमणिके स्पर्शसे लोहा भी कंचन हो जाता है, वैसे ही महात्माओंके प्रत्यक्ष या परोक्ष संबंधसे ऐसी बुद्धि आत्मनिष्ठ बनती है और मनुष्य पवित्र तथा शुद्ध होता है।

कुतर्ककी लत

कुतर्क करनेकी लत भी बहुत हानिकारक है। शंकाके समाधान अथवा तत्त्वके अनुसंधानके लिए तर्क न करके, केवल तर्कके लिए ही तर्क करनेका नाम कुतर्क है। "नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यः न मेधया न बहुना श्रुतेन"—

यह है वेदकी उक्ति, तर्क-युक्तिके द्वारा यह आत्मा लभ्य है—ऐसा समझना वाहियात है । तर्क करनेसे ईश्वर-साक्षात्कार नहीं होता, वे तो तर्कसे अति दूर हैं, 'नैषा तर्केण मतिरापनेया ।'' कुतर्क जालमें फंस जानेसे मनुष्य बुद्धिभ्रष्ट होजाते हैं और सत्य तत्वको साधारणतया ग्रहण नहीं कर सकते, प्रत्येक वस्तु उलटी दृष्टिसे देखनेसे उनकी समझ भी उलटी हो जाती है । परम तत्वको समझनेके लिए परस्पर आलोचना अथवा विचारकी आवश्यकता है, साधारण सत्य समझनेके लिए भी इसी रीतिका अवलंबन करना चाहिए; पर कुतर्क करनेसे कुछ भी फायदा नहीं ।

नारद भक्ति सूत्रमें भी कहा है, कि धर्मके विषयमें निरर्थक वादविवाद नहीं करना चाहिए । सद्विषयोंकी आलोचना तथा सत्यको सरल और उदारभावसे ग्रहण करनेका पयत्न करनेसे वृथा वादविवाद करनेकी इच्छा दूर होती है।

धर्माडंबर

धर्म-मार्गपर प्रयाण करनेमें आडंबर. स्वांग, अथवा ढोंग महाविघ्नरूप हैं । ये सब अहंकारके स्वरूप हैं । एक आना जितनी साधना करके मनुष्य सोलह आना जितना आडंबर करता है । अन्तरमें धर्मभाव हो या न हो, पर बाहरसे बहुतसे मनुष्य तिलकछापा लगा, पीतांबर पहिन, हाथमें माला ले अपनी धार्मिकताके आडंबरसे दुनियाको प्रभावित करनेके लिए खूब मेहनत करते हैं । जो वास्तवमें धार्मिक हैं, वे कभी ऐसा स्वांग नहीं करते, केवल इतना ही नहीं पर स्वयं जो साधना करते हैं, उसकी दूसरोंको ज़रा भी खबर नहीं पड़ने देते । रामकृष्ण परमहंस भी कहते थे, कि ध्यान करना हो तो मनमें, वनमें या घरके कोनेमें (निराली जगहमें) करना चाहिए । जो कुछ साधन—भजन करे उसकी डोंडी नहीं पिटानी चाहिए ।

जीसस क्राइस्ट भी कहते हैं कि :—

"And when thou prayest, thou shalt not be as the hypocrites are for they love to pray standing in the synagogues and in the corners of the streets, that they may be seen of man Verily I say unto you, they have their reward

But thou when thou prayest, enter into thy closet, and when thou hast shut thy door, pray to thy father which is in secret, and thy father which seeth in secret, shall reward thee openly"

"और जब तू प्रार्थना करे तब धर्मढोंगियोंकी तरह मत बरत, ये लोग तो मदिरोंके अदर और रास्तोंपर सबके देखते प्रार्थना करना पसद करते हैं, ऐसी इच्छासे कि सारे इनको प्रार्थना करते देखें, और उनको धार्मिक समझकर मान देवें। निस्सदेह उनको इनकी भक्तिके अनुरूप ही फल मिलता है।"

"जब तू प्रार्थना करे, तब तेरे घरके अंदर बैठकर दरवाजा बन्द करके तेरे अलक्ष्य पिताकी प्रार्थना करना और वह पिता जो गुप्तरूपसे सब देखता है, वह तुझे प्रत्यक्ष रूपसे उसका बदला देंगे।"

उद्धवी संप्रदायके भक्त कवि ब्रह्मानन्द कहते हैं कि :—

मुखतें एक ब्रह्म बनाय कहे, निज अन्तर माहि विकार भरे हैं,
ज्यू ठग गोबर कुम्भी भरी, उपरि घृत दोउक सेर धरे हैं,
ज्यूं कोउ प्याजसे पात्र भरा, चियरा कपूरको ढाँकी धरे हैं,
ब्रह्ममुनि कहे या जगके ब्रह्मज्ञानीहुसे मन मार डरे हैं;

भीतर भरी असतता, बाहर जैसे संत,
कहत तेही दृष्टांत करी, समझ लेहु बुद्धिवंत।

समझ लेहु बुद्धिवंत, देखी अन्तरको आसे;
होत विपेको जोग, तवे तेहि रूप प्रकासे।
दाखत ब्रह्मानन्द, नमे जेहि चोर रू चीतर;
बाहर जैसे सत, कुटिलता भरी है भीतर।
ऐसे साधु जगतमें, फिरत हि भेख बनाय;
उदर भरनके कारने, लोकनकुं भरमाय।
लोकनकुं भरमाय, नहीं जानत हरि लेशा;
परधन परत्रिय काज, करत रहे जत्न हमेशा।
दाखत ब्रह्मानन्द, ध्यान धरहे बग जैसे;
फिरत हैं भेख बनाय, जगतमें साधु ऐसे।
(ब्रह्मानन्द काव्य)

इससे ऐसा नहीं समझना कि सब साधुसंत ऊपर लिखे मुताबिक पाखंडी ही होते हैं, पर बाहरके वेशसे अथवा वाक्यचातुर्यसे भूलमें न आकर साधुओंकी पूरी परीक्षा करनेके बाद ही उनके ऊपर विश्वास करना चाहिए। श्रीरामकृष्ण परमहंस भी कहते थे, कि साधुको दिनमें भी देखो और रात्रिको भी देखो। यदि कहनी-करनी एक देखनेमें नहीं आवे, तो ऐसे साधुको दूरसे नमस्कार करनेमें ही लाभ है।

सच्चे संत कैसे हों इसका वर्णन करते मुनि ब्रह्मानन्द कहते हैं कि :—

प्रभुपद बाढे प्रीत, चित्त विषयन ते छूटे;
देश-गेह अरु देह, नेह सबहुसें तूटे।
हृदय शुद्ध होजाय, बुद्धि निरमलता पावे;
भ्रमे न काहु ठौर, अचल मनकुँ ठहरावे।
गुन चरित नवल गोविन्दके, सुन्दर वचन सुनावहि;
कहे ब्रह्म मुनि सङ्ग सन्तको, पुन्यवान नर पावहि।

एसे सन्त सुजान, मिले कभी काहु रै हे;
ज्युँ पारसमनि पाय, कल्पना सर्व गै हे।

परापार परब्रह्म, अगम सोइ सुगम बतावे;
शीतलता करी शांत, सबहि मन भ्रांत मिटावे।
जग उदधि अपार विकार, जल देखावन पारके,
कहे ब्रह्ममुनि वचनक्रम, सन्त नाव संसारके।

लोकनिन्दाका डर

भक्तिपथके यात्रियोंको लोकनिन्दाका डर भी दूर करना चाहिए। बहुतसी दफे ऐसा होता है, कि लोकनिंदासे डरकर भगवानका भजन कीर्तन करते हम अटक जाते हैं। प्रभुका भजन करते समय तो तन और मन दोनों एकतान हो जाने चाहिए; पर ऐसे समय "लोग क्या कहेंगे?" ऐसे ख्यालसे हम उसमें तल्लीन नहीं हो सकते। सत्कर्म करनेमें और भगवानके भजनमें इस प्रकारकी लोकलज्जाको तिलांजलि देना बहुत जरूरी है, नहीं तो भक्ति-पथपर अग्रसर नहीं हुआ जा सकता। श्रीरामकृष्ण कहते थे, कि जबतक लज्जा, घृणा और भय रहता है, तबतक प्रकृत भक्तिका उदय नहीं होता।

जो मनुष्य सत्कर्म करनेका प्रयत्न करता है, वह हमेशा दुनियाकी टीकाका पात्र बनता है, भक्तोंके जीवनकालमें दुनियाने उनका क्रॉससे, या अग्नि चिताओंसे ही सत्कार किया है, अथवा उनकी गिनती पागलोंमें ही की है। जीसस क्राइस्ट, नरसिंह मेहता, मीरांबाई, आदि भक्तोंको लोगोंने सतानेमें जरा भी कसर नहीं रक्खी थी, फिर भी भक्तोंने तो ऐसा ही गाया है कि —

"ऐसा रे हम ऐसा रे ऐसा, तुम कहते हो फिर तैसा रे,
भक्ति करते जो भ्रष्ट कहो तो, करेंगे दामोदरकी सेवा रे।"

भगवानका सच्चा भक्त मौतके शरण होता है, पर भगवद्‌भक्ति नहीं छोड़ता; जीसस क्राइस्टने हँसते हँसते क्रॉसको स्वीकार किया पर असत्य बात स्वीकार नहीं की।

वर्तमान समयमें पढ़े-लिखे मनुष्य बहुतसी दफे, स्वयंने आधुनिक शिक्षा प्राप्त की है, ऐसा बतानेके लिए कितनी ही बुराइयोंको अंगीकार करते हैं। यदि मैं ऐसा नहीं करूँगा तो सभ्यसमाज मेरे बारेमें कैसे हलके विचार बांधेगा !—यह भय कितने ही मनुष्योंको अधःपतनके मार्गपर आगे बढ़ाता है। ऐसी दुर्बलताका त्याग करके धर्म और सत्यकी खातिर प्राणकी भी आहुति देनेके लिए साधकको तत्पर रहना चाहिए, तथा मनमें ऐसा दृढ़ विश्वास रखना चाहिए कि—यतो धर्मस्ततो जयः। सत्यमेव जयते नानृतम् ॥

---

४. भक्तिमार्गमें सहाय

श्रीरामानुजाचार्यने वेदान्तभाष्यमें लिखा है, कि "विवेक, विमोक, अभ्यास, क्रिया, कल्याण, अनवसाद और अनुद्धर्षसे भक्तिलाभ होता है।"

श्रीरामानुजाचार्यके मतानुसार विवेकका अर्थ है—खाद्याखाद्यका विचार। खाद्य द्रव्योंमें तीन प्रकारकी अशुद्धि हो सकती है।

१. जाति-दोष अर्थात् खाद्य पदार्थका प्रकृतिगत दोष ; लसण, प्याज, इत्यादि पदार्थ स्वभावसे ही अशुद्ध हैं।

२. आश्रय-दोष अर्थात् पतित अथवा अभिशप्त मनुष्यके हाथका खाना। (दुष्ट रास्तेसे प्राप्त किया हुआ अन्न भी इस विभागमें आजाता है।)

३. निमित्त-दोष अर्थात् दूसरी कोई अपवित्र वस्तु जैसे कि धूल, बाल इत्यादिके संस्पर्शसे उत्पन्न हुआ दोष। श्रुतिमें कहा है कि :—

आहार शुद्धौ सत्वशुद्धिः सत्वशुद्धौ ध्रुवा स्मृतिः ॥

शुद्ध आहारसे चित्त शुद्ध होता है और चित्त शुद्ध होनेसे भगवानका सर्वदा स्मरण हो सकता है। (छांदोग्य) खाद्याखाद्यका विचार भक्तिमार्गके

अनुयायिओंमें अति अगत्यका विषय गिननेमें आता है। सांख्य-दर्शनके मतानुसार सत्व, रजस् और तमस् ऐसे तीन गुण हैं। उनकी साम्यावस्था प्रकृति कहलाती है, और उनमें विषमता होनेसे जगत् उत्पन्न होता है। सत्व, रजस्, और तमस् ये प्रकृतिके गुण तथा उपादान भी हैं, इनमेंसे ही नरदेह उत्पन्न होती है। इन तीनों गुणोंमेंसे सत्वका प्रधान्य आध्यात्मिक उन्नतिके लिए अति आवश्यक है। आहार द्वारा शरीरमें हम जो उपादान ग्रहण करते हैं, उनसे अपने मनके गठनमें भी सहायता मिलती है, इससे खाद्याखाद्यकी ओर अवश्य दृष्टि रखनी चाहिए। इसके साथ यह भी याद रखना चाहिए, कि साधनमार्गमें खाद्याखाद्यकी शुद्धिका विचार गौण है, मुख्य नहीं। ऊपर बताये हुए श्रुतिवाक्यका भगवान श्रीशंकराचार्य अपने भाष्यमें नीचे लिखे अनुसार अर्थ करते हैं —

"जो आहृत होता है वह आहार। शब्दादि विषयोंका ज्ञान भोक्ताके यानी आत्माके उपभोगके लिए अंदर आहृत होता है। (भोक्तु भोगायाहियते)। इन विषयोंकी अनुभूतिरूप ज्ञानकी शुद्धिको ही आहार-शुद्धि कहते हैं, इससे आहार-शुद्धिका अर्थ है, आसक्ति, द्वेष, या मोहशून्य होकर विषयका विज्ञान। इस प्रकार ज्ञान अथवा 'आहार' शुद्ध होनेसे व्यक्तिका सर यानी [illegible] या शुद्ध होता है, और सत्व शुद्ध होनेसे अनन्त पुरुषके [illegible] या अविच्छिन्न स्मृति होती है।"

सूर्यके प्रकाशसे प्रदीप्त हो तो अच्छा है। केवल रसोईका धर्म—यह एक प्रकारका जड़वाद ही है; यह ज्ञान भी नहीं है और भक्ति या कर्म भी नहीं है। यह तो एक प्रकारका पागलपन है; और जो लोग ऐसे खाद्याखाद्यके सूक्ष्मतापूर्ण विचारको ही जीवनका सार कार्य मानते है, उनकी ब्रह्मलोकमें गति होनेके बदले पागलखानेमे ही गति होगी, ऐसा प्रतीत होता है।

२. विमोक अर्थात् इन्द्रियोंकी विषयाभिमुखी गतिको रोककर उनका संयम करके अपने अंकुशमें लाना या वशमें करना। इस प्रकारका संयम सर्वप्रकारके धर्मसाधनोंमे नींव–रूप है।

३. अभ्यास अर्थात् आत्मसंयम तथा आत्मत्यागका अभ्यास। परमात्मा को अपनी आत्मामें अनुभव करना, तथा उसके साथ तृप्तिका अनुभव करना, यह बात साधककी प्रबल चेष्टा तथा सयमके अभ्यास विना बन नहीं सकती। मनमें सदा ईश्वरसंबंधी विचार ही चलने चाहिए। शुरू-शुरूमें ऐसा करना अति कठिन मालूम पड़ता है, पर धैर्य सहित प्रयत्न करनेसे चिंतन-शक्ति धीरे-धीरे बढ़ती जाती है। भगवान श्रीकृष्णने गीताजीमें कहा है कि :—

अभ्यासेन तु कौंतेय वैराग्येण च गृह्यते"

हे कौन्तेय! अभ्यास और वैराग्य द्वारा ही यह लभ्य है।

४. क्रिया अर्थात् यज्ञ। पंच महायज्ञका नियमित रूपसे अनुष्ठान करना चाहिए :—

१. भूतयज्ञ २. मनुष्ययज्ञ ३. पितृयज्ञ ४. देवयज्ञ ५. ब्रह्मयज्ञ। भूतयज्ञ अर्थात् प्राणियोंको अन्न-दान, मनुष्ययज्ञ अर्थात् अतिथि तथा अभ्यागतकी अन्नादिसे सेवा, पितृयज्ञ अर्थात् पितरोंका तर्पण, देवयज्ञ अर्थात् हवनादिसे देवताओंकी पूजा, और ब्रह्मयज्ञ अर्थात् वेदोंका अध्ययन।

५. कल्याण अर्थात् पवित्रता। इस एक ही पायेपर भक्तिरूपी महलकी चुनाई हुई है। बाह्य शौच और खाद्याखाद्य संबंधी विचार ये दोनों सहल

अनुयायिओंमें अति अगत्यका विषय गिननेमें आता है। सांख्य-दर्शनके मतानुसार सत्व, रजस् और तमस् ऐसे तीन गुण हैं। उनकी साम्यावस्था प्रकृति कहलाती है, और उनमें विषमता होनेसे जगत् उत्पन्न होता है। सत्व, रजस्, और तमस् ये प्रकृतिके गुण तथा उपादान भी हैं, इनमेंसे ही नरदेह उत्पन्न होतो है। इन तीनों गुणोंमेंसे सत्वका प्रधान्य आध्यात्मिक उन्नतिके लिए अति आवश्यक है। आहार द्वारा शरीरमें हम जो उपादान ग्रहण करते हैं, उनसे अपने मनके गठनमें भी सहायता मिलती है, इससे खाद्याखाद्यकी ओर अवश्य दृष्टि रखनी चाहिए। इसके साथ यह भी याद रखना चाहिए, कि साधनमार्गमें खाद्याखाद्यकी शुद्धिका विचार गौण है, मुख्य नहीं। ऊपर बताये हुए श्रुतिवाक्यका भगवान श्रीशंकराचार्य अपने भाष्यमें नीचे लिखे अनुसार अर्थ करते हैं —

"जो आहृत होता है वह आहार। शब्दादि विषयोंका ज्ञान भोक्ताके यानी आत्माके उपभोगके लिए अंदर आहृत होता है। (भोक्तु भोगायाहियते)। इन विषयोंकी अनुभूतिरूप ज्ञानकी शुद्धिको ही आहार-शुद्धि कहते हैं, इससे आहार-शुद्धिका अर्थ है, आसक्ति, द्वेष, वा मोहशून्य होकर विषयका विज्ञान। इस प्रकार ज्ञान अथवा 'आहार' शुद्ध होनेसे व्यक्तिका सत्व यानी अंतःकरण शुद्ध होता है, और सत्व शुद्ध होनेसे अनन्त पुरुषके यथार्थ स्वरूपका ज्ञान तथा अविच्छिन्न स्मृति होती है।"

यह दोनों प्रकारकी व्याख्याएँ उपलक दृष्टिसे विरोधी मालूम पड़ती हैं, पर दोनोंमें सत्य है, और दोनोंकी आवश्यकता है। सूक्ष्मशरीर अथवा मनका सयम देहके सयमसे उच्चतर कार्य है, इसमें सदेह नहीं, परंतु स्थूल-शरीरका सयम भी उपेक्षाका विषय नहीं है। इसलिए गुरुके उपदेशानुसार प्रारंभमें आहारपर भी ध्यान देना चाहिए। परतु आजकल कितने ही सम्प्रदायोंमें आहारसंबंधी ऐसे बंधन तथा बाधायें देखनेमें आती हैं, जिससे ऐसा मालूम होता है कि सारा धर्म रसोईमें समा गया है। धर्मका महान सत्यसमूह अब जल्दी ही इन जगहोंसे निकलकर आध्यात्मिक

आत्मचिंतन

भक्त एकान्तमें बैठकर बहुतसी वार विचारता है :— मैं कौन हूँ ? कहाँसे आया हूँ ? मृत्युके पश्चात् कहाँ जाना है ? इस सुन्दर पृथ्वी, सूर्यचन्द्रादिका कर्त्ता कौन है ? इत्यादि।

ऐसे विचार उसको तत्त्वके अन्वेषणमें लगाते हैं, और धीरे-धीरे जिस परम शक्तिमेंसे यह जगत् कार्यरूपमें उद्भव हुआ है, उसको वह प्राप्त करता है। उस समय वह समझता है, कि जगत्का नियामक एक महानपुरुष है, जो सबका ईश्वर है, और जिसकी इच्छासे ही जगत्के सब कार्य होते हैं। इन विचारोंके दृढ़ होनेके बाद साधकका मन सहज ही भगवानकी तरफ झुकता है, और भक्तिभावसे प्रभुमें प्रीतिबद्ध होता है। शुरू-शुरूमें साधारण अर्थार्थी भक्त तो उसको जिस जिस चीजका अभाव मालूम होता है उसके लिए भगवानके पास प्रार्थना करता है, ऐसा समझकर कि उन वस्तुओंके प्राप्त होनेसे शांति मिलेगी; पर जब उन वस्तुओंके मिलनेपर भी उसको शांति नहीं होती, तब वह विचारमें पड़ता है, और जिस वस्तुके लाभसे सब अभाव दूर हों उस वस्तुकी खोजमें लग जाता है; अन्तमें सच्चा आत्मज्ञान होनेसे उसको पूर्ण शांति मिलती है। ध्रुवके धार्मिक जीवनका आरम्भ अर्थार्थी भक्तकी तरह होता है, पर भगवानका दर्शन होनेसे उसकी सर्व अभिलाषा पूर्ण होती है, और वह सच्चा ज्ञानीभक्त बनता है।

जैसे-जैसे आत्मचिंतन बढ़ता जाता है, वैसे वैसे अज्ञानांधकार दूर होता जाता है, मनके विविध नाच भी बंद हो जाते हैं, मन स्थिर-धीर हो जाता है और अन्तमें भक्तके हृदयमें परम शांतिका सिंचन होता है। गीताजीमें इस स्थितिको ही ब्राह्मी स्थितिके नामसे वर्णन किया है :—

> एषा ब्राह्मी स्थितिः पार्थ नैनां प्राप्य विमुह्यति।
> स्थित्वाऽस्यामन्तकालेऽपि ब्रह्मनिर्वाणमृच्छति॥

हैं, पर अतशु द्धि बिना इनका जरा भी मूल्य नहीं है। श्रीरामानुजाचार्यने अंतशु द्धिके लिए नीचे बताये हुए साधन गिनाये हैं।

१ सत्य २. सरलता ३ दया ४ दान ५ अहिंसा ६ अनभिध्या, दूसरेके द्रव्यकी इच्छा न करना, वृथा विचारोंसे दूर रहना और दूसरोंके अर्थात् किए हुए अनिष्टका विचार न करते रहना।

६. अनवसादका अर्थ शक्ति है, यह भी भक्तिलाभका प्रधान साधन है। मुंडक उपनिषद्में कहा है कि :—नायमात्मा बलहीनेन लभ्य.॥ आत्मा बलहीन व्यक्तिसे प्राप्त नहीं हो सकता। यहाँ बलहीनता शब्दसे शारीरिक तथा मानसिक दोनों प्रकारकी दुर्बलता लक्षित हुई है। दुर्बल जराजीर्ण व्यक्ति साधन भजन नहीं कर सकता, क्योंकि योगाभ्यास करते-करते जो अद्भुत शक्ति जागृत होती है, उसको धारण करनेकी सामर्थ्य कमज़ोर मनुष्यमें नहीं होती। शारीरिक, मानसिक, और स्नायविक दुर्बलताके कारण शक्तिको धारण नहीं कर सकनेसे साधक अधिकतर रोगग्रस्त हो जाता है, स्वस्थकाय सबल व्यक्ति ही सब प्रकारके साधनोंमें सिद्धि प्राप्त कर सकता है। इन्द्रियसयमकी प्रतिक्रिया भी निर्बल शरीरवाला सहन नहीं कर सकता। इसलिए विशेषरूपसे यह याद रखना चाहिए, कि इच्छापूर्वक शरीरको दुर्बल बनाना, भक्ति या ज्ञानलाभके मार्गमें आवश्यक नहीं।

७ अनुद्धर्ष अर्थात् अति मौज मजेमें समय व्यतीत न करना। ऐसा करनेसे गभीर विचार करनेकी सामर्थ्य नष्ट होती है, क्योंकि मौज-मजेमें ही सारी मानसिक शक्तिका क्षय हो जाता है। जिसकी इच्छा-शक्ति जितने प्रमाणमें दृढ़ है, उतने प्रमाणमें वह नाना प्रकारके भावोच्छ्वाससे विचलित कम होता है। अति दुःख-जनक गभीर भाव जिस तरह साधकके लिए हानिकारक है, उसी तरह अधिक हास्यकौतुक भी उसके लिए हानिकारक है। मन स्थिर, शातभाववाला होनेसे ही सर्व प्रकारकी आध्यात्मिक अनुभूति हो सकती है।

सत्संग

सत्संग भक्तिका प्रिय बंधु है। साधुओंके सहवाससे भगवानके प्रति प्रेम उत्पन्न होता है, और उनके पवित्र उपदेशोंसे मलिनता दूर हो जाती है। श्रीमद् भागवतमें कहा है कि —

सतां प्रसङ्गान्ममवीर्यसंविदो भवन्ति हृत्कर्णरसायनाः कथाः।
तज्जोषणादाश्वपवर्गवर्त्मनि श्रद्धारतिर्भक्तिरनुक्रमिष्यति ॥

भगवान कहते हैं कि :—

साधुओंके संगमें मेरी शक्तिकी वार्ताएँ होती हैं, जो हृदय और कर्णोंको सुखदायी होती हैं, वार्ताओंके उपभोगसे मुक्तिके मार्गके प्रति श्रद्धा, भक्ति और प्रेमका जन्म होता है।

फिर भागवतमें ऐसा कहा है कि :—जबतक विषयके अभिमानसे रहित साधुओंकी पदरजसे पवित्र न होवे, तबतक मनुष्यकी मति संसारवासना-के नाशस्वरूप भगवानके चरणकमलमें स्थिर नहीं होती। कारण देवर्षि नारदजी कहते हैं — ॐ मुख्यतस्तु महत्कृपयैव भगवत्कृपालेशाद् वा। भक्तिलाभका मुख्य साधन है महात्माओंकी कृपा अथवा परमेश्वरकी कृपा। सन्त तो, तीर्थीकुर्वन्ति तीर्थानि, सुकर्मी कुर्वन्ति कर्माणि, सच्छास्त्री कुर्वन्ति शास्त्राणि। (नारदभक्तिसूत्र) सन्त ऐसे होते हैं।

साधु सेवनसे कितना फल प्राप्त होता है इसके संबधमें व्यास भगवान को नारदजी कहते हैं कि :—

तत्रान्वहं कृष्णकथा प्रगायतामनुग्रहेणा श्रृणवं मनोहरा ।
ताः श्रद्धयामेऽनुपद विश्रृणवतः प्रियश्रवस्यं गममाभवद्रुचिः ॥
(भागवत)

ऋषि-मुनिओंकी कही हुई सुन्दर कृष्णकथाको हररोज़ श्रद्धासहित

श्रवण करनेसे मेरेमें उस प्रिय भगवानके लिए रुचि उत्पन्न हुई।

ऐसे महात्माओंके वचनोंके श्रवणसे रजस्तमनाशिनी भक्तिका जन्म होता है, इसलिए सदा सर्वदा संतपुरुषोंके पाससे ऐसी कथाएँ सुनते रहना चाहिए। सत्संगकी महिमाका वर्णन करते हुए ब्रह्मानन्द मुनि कहते हैं कि:—

तीन तापकी झाल, पर्यो प्रानी कोउ आवे,
ताकू शीतल करत, तुरत दिल दाह मिटावे।
कहि कहि सुन्दर बैन, रैन अज्ञान निकासे,
प्रगट होत पहिचान, ज्ञान उर भान प्रकासे।
वैराग त्याग राजत विमल, भव दुःख काटत जंतको;
कहे ब्रह्ममुनि या जगमें, संग अनुपम सन्तको।
सन्त समागम करत, टरत भवभय ततकाला;
कर्म भर्म सब कटत, छूटत मनहूका चाला।
जंत बहे भव जाही, ताहि गहि बाह उधारे;
प्रलय करे सब पाप, शोक सन्ताप निवारे।
निर्विघ्न करत, दिल हरत दुःख, फेर परत नहीं फंद में;
कहे ब्रह्ममुनि तेहि संगते, होत प्रीत गोविन्दमें।

जिसके संगसे अपना चरित्र सुधरे नहीं, शठता, प्रपंच, असत्य इत्यादि दुर्गुण दूर न हों, दया, संयम, पवित्रता इत्यादि गुणोंकी वृद्धि न हो, तो जानना चाहिए कि वह संग साधुका संग नहीं है।

इष्टनिष्ठा और इष्टसेवा

नाम्नामकारि बहुधा निजसर्वशक्ति-
स्तत्रार्पिता नियमितः स्मरणे न कालः।
एतादृशी तव कृपा भगवन् ममाऽपि
दुर्दैवमीदृशमिहाजनि नानुरागः॥

(श्रीकृष्ण चैतन्य)

सत्संग

सत्संग भक्तिका प्रिय बंधु है । साधुओंके सहवाससे भगवानके प्रति प्रेम उत्पन्न होता है, और उनके पवित्र उपदेशोंसे मलिनता दूर हो जाती है । श्रीमद् भागवतमें कहा है कि :—

सतां प्रसङ्गान्मम वीर्यसंविदो भवन्ति हृत्कर्णरसायनाः कथाः ।
तज्जोषणादाश्वपवर्गवर्त्मनि श्रद्धारतिर्भक्तिरनुक्रमिष्यति ॥

भगवान कहते हैं कि :—

साधुओंके संगमें मेरी शक्तिकी वार्ताएँ होती हैं, जो हृदय और कर्णोंको सुखदायी होती हैं, वार्ताओंके उपभोगसे मुक्तिके मार्गके प्रति श्रद्धा, भक्ति और प्रेमका जन्म होता है ।

फिर भागवतमें ऐसा कहा है कि :—जबतक विषयके अभिमानसे रहित साधुओंकी पदरजसे पवित्र न होवे, तबतक मनुष्यकी मति संसारवासना-के नाशस्वरूप भगवानके चरणकमलमें स्थिर नहीं होती । कारण देवर्षि नारदजी कहते हैं —ॐ मुख्यतस्तु महत्कृपयैव भगवत्कृपालेशाद् वा । भक्तिलाभका मुख्य साधन है महात्माओंकी कृपा अथवा परमेश्वरकी कृपा । सन्त तो, तीर्थीकुर्वन्ति तीर्थानि, सुकर्मी कुर्वन्ति कर्माणि, सच्छास्त्री कुर्वन्ति शास्त्राणि । (नारदभक्तिसूत्र) सन्त ऐसे होते हैं ।

साधु सेवनसे कितना फल प्राप्त होता है इसके संबधमें व्यास भगवान को नारदजी कहते हैं कि :—

तत्रान्वहं कृष्णकथा प्रगायतामनुग्रहेणा श्रृणवं मनोहराः ।
ताः श्रद्धयामेऽनुपदं विश्रृण्वतः प्रियश्रवस्यं गममाभवद्रुचिः ॥
(भागवत)

ऋषि-मुनियोंकी कही हुई सुन्दर कृष्णकथाको हररोज़ श्रद्धासहित

श्रवण करनेसे मेरेमें उस प्रिय भगवानके लिए रुचि उत्पन्न हुई।

ऐसे महात्माओंके वचनोंके श्रवणसे रजस्तमनाशिनी भक्तिका जन्म होता है, इसलिए सदा सर्वदा संतपुरुषोंके पाससे ऐसी कथाएँ सुनते रहना चाहिए। सत्संगकी महिमाका वर्णन करते हुए ब्रह्मानन्द मुनि कहते हैं कि :—

तीन तापकी झाल, पर्यो प्रानी कोउ आवे;
ताकू शीतल करत, तुरत दिल दाह मिटावे।
कहि कहि सुन्दर बैन, रैन अज्ञान निकासे,
प्रगट होत पहिचान, ज्ञान उर भान प्रकासे।
धराग त्याग राजत विमल, भव दुःख काटत जतको,
कहे ब्रह्ममुनि या जगमें, संग अनुपम सन्तको।
सन्त समागम करत, टरत भवभय ततकाला,
कर्म भर्म सब कटत, छूटत मनहूका चाला।
जंत बहे भव जाही, ताहि गहि बाह उधारे,
प्रलय करे सब पाप, शोक सन्ताप निवारे।
निर्विघ्न करत, दिल हरत दुःख, फेर परत नहीं फंद में;
कहे ब्रह्ममुनि तेहि संगते, होत प्रीत गोविन्दमें।

जिसके संगसे अपना चरित्र सुधरे नहीं, शठता, प्रपंच, असत्य इत्यादि दुर्गुण दूर न हों, दया, संयम, पवित्रता इत्यादि गुणोंकी वृद्धि न हो, तो जानना चाहिए कि वह संग साधुका संग नहीं है।

इष्टनिष्ठा और इष्टसेवा

नाम्नामकारि बहुधा निजसर्वशक्ति-
स्तत्रापिता नियमितः स्मरणे न कालः।
एतादृशी तव कृपा भगवन् ममाऽपि
दुर्दैव मीदृशमिहाजनि नानुरागः॥

(श्रीकृष्ण चैतन्य)

सत्संग

सत्संग भक्तिका प्रिय बंधु है । साधुओंके सहवाससे भगवानके प्रति प्रेम उत्पन्न होता है, और उनके पवित्र उपदेशोंसे मलिनता दूर हो जाती है । श्रीमद् भागवतमें कहा है कि :—

सतां प्रसङ्गान्ममवीर्यसंविदो भवन्ति हृत्कर्णरसायनाः कथाः ।
तज्जोषणादाश्वपवर्गवर्त्मनि श्रद्धारतिर्भक्तिरनुक्रमिष्यति ॥

भगवान कहते हैं कि :—

साधुओंके संगमें मेरी शक्तिकी वार्ताएँ होती हैं, जो हृदय और कर्णको सुखदायी होती हैं, वार्ताओंके उपभोगसे मुक्तिके मार्गके प्रति श्रद्धा, भक्ति और प्रेमका जन्म होता है ।

फिर भागवतमें ऐसा कहा है कि :—जबतक विषयके अभिमानसे रहित साधुओंकी पदरजसे पवित्र न होवे, तबतक मनुष्यकी मति संसारवासना-के नाशस्वरूप भगवानके चरणकमलमें स्थिर नहीं होती । कारण देवर्षि नारदजी कहते हैं —ॐ मुख्यतस्तु महत्कृपयैव भगवत्कृपालेशाद् वा । भक्तिलाभका मुख्य साधन है महात्माओंकी कृपा अथवा परमेश्वरकी कृपा । सन्त तो, तीर्थीकुर्वन्ति तीर्थानि, सुकर्मी कुर्वन्ति कर्माणि, सच्छास्त्री कुर्वन्ति शास्त्राणि । (नारदभक्तिसूत्र) सन्त ऐसे होते हैं ।

साधु सेवनसे कितना फल प्राप्त होता है इसके संबंधमें व्यास भगवानको नारदजी कहते हैं कि :—

तत्रान्वहं कृष्णकथाः प्रगायतामनुग्रहेणा शृणवं मनोहराः ।
ताः श्रद्धयामेऽनुपदः विशृण्वतः प्रियश्रवस्यं गममाभवद्रुचिः ॥
(भागवत)

ऋषि-मुनियोंकी कही हुई सुन्दर कृष्णकथाको हररोज़ श्रद्धासहित

श्रवण करनेसे मेरेमें उस प्रिय भगवानके लिए रुचि उत्पन्न हुई ।

ऐसे महात्माओंके वचनोंके श्रवणसे रजस्तमनाशिनी भक्तिका जन्म होता है, इसलिए सदा सर्वदा संतपुरुषोंके पाससे ऐसी कथाएँ सुनते रहना चाहिए । सत्संगकी महिमाका वर्णन करते हुए ब्रह्मानन्द मुनि कहते हैं कि :—

तीन तापकी झाल, पर्यो प्रानी कोउ आवे;
ताकू शीतल करत, तुरत दिल दाह मिटावे ।
कहि कहि सुन्दर बैन, रैन अज्ञान निकासे,
प्रगट होत पहिचान, ज्ञान उर भान प्रकासे ।
वैराग त्याग राजत विमल, भव दुःख काटत जंतको,
कहे ब्रह्ममुनि या जगमें, संग अनुपम सन्तको ।
सन्त समागम करत, टरत भवभय ततकाला;
कर्म भर्म सब कटत, छूटत मनहूका चाला ।
जंत वहे भव जाही, ताहि गहि बाह उधारे,
प्रलय करे सब पाप, शोक सन्ताप निवारे ।
निर्विघ्न करत, दिल हरत दुःख, फेर परत नहीं फंद में;
कहे ब्रह्ममुनि तेहि संगते, होत प्रीत गोविन्दमें ।

जिसके संगसे अपना चरित्र सुधरे नहीं, शठता, प्रपंच, असत्य इत्यादि दुर्गुण दूर न हों, दया, संयम, पवित्रता इत्यादि गुणोंकी वृद्धि न हो, तो जानना चाहिए कि वह संग साधुका संग नहीं है ।

इष्टनिष्ठा और इष्टसेवा

नाम्नामकारि बहुधा निजसर्वशक्ति-
स्तत्रापिता नियमितः स्मरणे न कालः ।
एतादृशी तव कृपा भगवन् ममाऽपि
दुर्दैव मीदृशमिहाजनि नानुरागः ॥

(श्रीकृष्ण चैतन्य)

"लोग तुमको विविध नामसे पुकारते हैं,— जैसे कि उन्होंने आपकी सर्व शक्तिके नाना भाग कर डाले हों परन्तु इनमेंसे प्रत्येक नाममें तुम्हारी पूर्ण शक्ति वर्तमान है। जो उपासक जिस भावसे उपासना करनेकी इच्छा करता है, हे भगवन्! तुम भी उसके पास उसी भाव द्वारा प्रकाशित होते हो। तुम्हारी तरफ आत्माका एकांतिक अनुराग होवे तो तुमको बुलानेके लिए किसी निर्दिष्ट काल या स्थानकी आवश्यकता नहीं। तुम्हारे पास मनुष्य बहुत सरलतासे पहुँच सकता है, पर यह हमारा दुर्भाग्य है कि तुम्हारी तरफ हमारा अनुराग ही उत्पन्न नहीं हुआ।"

जो भक्त होना चाहता है उसको जान लेना चाहिए कि "जितने मत उतने पथ।" विभिन्न सम्प्रदायोंमें उस एक ही भगवानकी महिमाके भिन्न-भिन्न प्रकारके विकासकी उपासना करनेमें आती है। भक्तोंको अन्य संप्रदायोंके संस्थापक तेजस्वी महापुरुषोंके प्रति भी मानकी दृष्टि रखनी चाहिए। उदार दृष्टि और गंभीर प्रेम प्रकृत भक्तके मुख्य लक्षण हैं। सर्व सम्प्रदायोंमें कुछ-न कुछ त्रुटि तो होती ही है, परन्तु भक्तोंको तो मधुमक्खीकी वृत्तिका अवलंबन करके प्रत्येक धर्मकी सार वस्तु ग्रहण कर असार वस्तुको छोड़ देना चाहिए। जैसे सम्प्रदायोंमें दोष होते हैं, वैसे ही प्रत्येक व्यक्तिमें भी कुछ न कुछ दोष होता है, क्योंकि No man is perfect who is born of a woman जन्म ग्रहण किया हुआ मनुष्य सर्वांशमें निर्दोष नहीं हो सकता, एकमात्र ईश्वर ही पूर्ण है। इस सत्यको हमेशा दृष्टिमें रखकर ही भक्तोंको मनुष्य और समाजके प्रति तुलना-दृष्टि करनी चाहिए।

ऐसा उदार भाव तथा गंभीर प्रेम प्राप्त करनेका एकमात्र रास्ता इष्टनिष्ठा है। सनातन वैदिक धर्मने भगवानके मंदिरमें प्रवेश करनेके लिए अनन्त द्वार खोले हैं, अर्थात् प्रभु प्राप्तिके लिए मानवजातिको अगणित आदर्श बताये हैं। प्रत्येक आदर्श उस अनन्त स्वरूप भगवानका एक-एक रूप है, ऐसा समझकर साधकको अपने इष्टकी उपासना करनी चाहिए।

इष्टनिष्ठाका अर्थ यह है, कि अपना इष्ट भगवानका पूर्ण स्वरूप है, और उसके सिवाय जो दूसरे रूप हैं, वे भी उसने ही धारण किये हैं, ऐसी भावना करनी चाहिए। ऐसी उदार भावनासे अपने इष्टमें निष्ठा बढ़ती जाती है, और अन्याश्रय होना नहीं पड़ता।

भारतवर्षमें धर्मके सच्चे रहस्यको भूल जानेसे ही साधारणतया भिन्न-भिन्न संप्रदायोंके बीचमें विरोध देखनेमें आता है, और विशेषकर दक्षिणमें शैव और वैष्णव संप्रदायोंके बीच तो निरन्तर झगड़े चलते ही रहते हैं। नैष्ठिक भक्तिकी साधना करते हुए इष्टकी विविधताको लेकर भ्रमवशात् साधकगण परस्पर विद्वेष करते हैं। नैष्ठिक भक्तिके बिना ईश्वरदर्शन नहीं होता, यह ठीक है, पर इससे दूसरोंके इष्टदेवकी निन्दा या घृणा करनेकी आवश्यकता नहीं। सारे इष्टदेव परमात्माके ही स्वरूप हैं, और भगवान ही भक्तोंके भाव और विश्वासके अनुसार उस-उस रूपमें उनके समक्ष प्रकट हो दर्शन देते हैं। महाभारतमेंसे उपमन्युका उपाख्यान यहाँ देनेसे यह बात विशेषतया स्पष्ट होगी।

एक समय उपमन्यु नामका ऋषिकुमार बालकोंके साथ खेल रहा था, तब गाय दोहते देखकर उसको दूध पीनेकी इच्छा हुई। घर जाकर उसने माताके पास से दूध माँगा, पर गरीबीके कारण दूध घरमें नहीं था, इससे उसकी माँने पोतनी धोकर उसका सफेद पानी दूधकी जगह उसको पीनेको दे दिया, पर उसके पीते ही उपमन्युने माँसे कहा कि, "यह दूध नहीं है, क्योंकि उसके जैसा मिठास इसमें नहीं है। एक बार पिताजीके साथ मैं यज्ञमें गया था वहाँ मैंने दूध पिया था, सो उसका स्वाद मैं जानता हूँ।"

माताने जवाब दिया :— हम लोग गरीब हैं, सो दूध कहाँसे लावें? तुम भूतनाथ महादेवकी उपासना करो तो सब मिल सकता है।

उपमन्युने पूछा कि उनके दर्शन किस तरहसे हो सकते हैं?

माताने उत्तर दिया कि वनमें जाकर तपश्चर्या करो तो तुमको महादेवके दर्शन होंगे।

उपमन्यु घर छोड़कर वनमें गया और उसने घोर तपश्चर्या शुरू की। शिवजी प्रसन्न हो इन्द्रका रूप धारणकर उसके समक्ष प्रकट हुए और वरदान माँगनेके लिए कहा।

उपमन्युने कहा कि, "तुम तो देवराज इन्द्र हो, मैं तो शिवदर्शनकी इच्छासे तप करता हूँ। शिव भगवानके अतिरिक्त दूसरेके पाससे वरदान माँगनेकी मेरी इच्छा नहीं है। आपको नमस्कार करता हूँ आप अपने स्थानपर पधारो। भूतपति शंकरकी आज्ञा हो तो मैं कीड़ा अथवा वृक्षरूप होनेको भी तैयार हूँ, परंतु दूसरेके अनुग्रहसे त्रिभुवनका राज्य भोगनेके लिए भी इच्छा नहीं करता।"

भक्तको ऐसी एकान्तिक भक्तिको देखकर भूतपति शंकर प्रसन्न हुए और उन्होंने इन्द्ररूपको छोड़कर अपने स्वरूपमें दर्शन दिया। ऊपरके दृष्टान्तसे एकनिष्ठ भक्तिकी महिमाको समझाया है। ऐसे बहुतसे दृष्टान्त पुराणोंमें मिलते हैं।

इस प्रकारकी नैष्ठिक भक्ति उत्तम फल देनेवाली है, क्योंकि इसमें दूसरे इष्टदेवोंकी निन्दा नहीं है, केवल अपने इष्टके प्रति परम अनुराग है।

इससे विपरीत घंटाकर्ण ऋषिके उपाख्यानमें अपने इष्टके प्रति अनुराग और दूसरोंके इष्टके प्रति तिरस्कार देखनेमें आता है।

घंटाकर्ण शिवजीका परम भक्त था। एक समय महादेव उसके ऊपर प्रसन्न हुए, और सब देव एक परम देवाधिदेवके ही स्वरूप हैं ऐसा उसको समझानेके लिए हरिहरका (आधा हरि और आधा हरका) स्वरूप धारण करके प्रकट हुए, पर मूढ़मति घंटाकर्ण यह बात नहीं समझा। उसने अपने हाथसे उस मूर्तिके विष्णुवाले आधे भागकी आँख तथा नासिकाके छिद्रको

बंद करके आरती उतारी और भोग चढ़ाया, ऐसा समझकर कि जो विष्णुस्वरूपकी दृष्टि इस भोगपर पड़ेगी, अथवा इस भोगकी सुगन्ध भी उसकी नासिकामें जायगी, तो यह उच्छिष्ट हो जायगा और शंकर भगवान इसको ग्रहण नहीं करेंगे।

विचारहीन एकनिष्ठ भक्तिका ऐसा हास्यजनक परिणाम होता है। आजकलके आचार्योंमें इस प्रकारका पागलपन विशेष प्रमाणमें देखनेमें आता है, जिससे उनके भक्तगण भक्तिका सच्चा स्वरूप भूलकर दूसरोंका विरोध करनेमें ही समय गँवाते हैं। सच्ची भक्तिका अर्थ दूसरोंके इष्टदेवोंका विरोध नहीं परंतु अपने इष्टदेवके प्रति परम अनुराग है।

भक्ति-शास्त्रने भगवत्-प्राप्तिके लिए जो भिन्न-भिन्न उपाय बताये हैं, वे सब आवश्यक हैं, इसलिए उनमेंसे एक भी स्वीकार करनेके लिए अयोग्य नहीं है। पर इस संबंधमें श्रीरामकृष्ण देवका उपदेश ध्यानमें रखने योग्य है; वे कहते थे कि जबतक पेड़ छोटा होवे तबतक उसके चारों ओर बाड़ कर लेनी चाहिए, परंतु उस पेड़के बड़े होनेके बाद उस बाड़को निकाल देना चाहिए, नहीं तो उसकी ठीक-ठीक वृद्धि नहीं होती। भक्ति-भावके साधनमें भी ऐसा समझना चाहिए। जबतक साधक एक भावमें दृढ़ नहीं हो जाय, तबतक उसको दूसरे भावोंकी तरफ ज्यादा ध्यान नहीं देना चाहिए; क्योंकि ऐसा करनेसे अपने अपरिपक्व भावको हानि पहुँचती है; परतु अपने भावमें दृढ़ स्थिति होनेके बाद दूसरे सब भावोंका आस्वाद लेना चाहिए। स्वामी विवेकानन्द कहते थे कि :—

It is good to be born in a church, but not to die there.

साधनाके प्रारंभमें एकनिष्ठ होना ही चाहिए।

श्रीहनुमानकी तरह साधकको समझना चाहिए कि :—

श्री नाथे जानकीनाथे अभेदः परमात्मनि ।
तथापि मम सर्वस्वो रामः कमललोचनः ॥

इसी तरह तुलसीदासजी कहते हैं वह भी याद रखना चाहिए:—

सबसे बसिये, सबसे रसिये, सबका लीजे नाम;
हाजी, हाजी करते रहिए, बैठि आपने ठाम ।

भक्त यदि पवित्र तथा सरल स्वभाववाला होता है तो गुरुके प्रदान किये हुए बीजमन्त्रके प्रभावसे ही उसको पराभक्ति तथा परमज्ञानका लाभ हो जाता है, और उसकी समझमें आजाता है, कि उसके अपने ही इष्टदेव विभिन्न संप्रदायोंमें विभिन्न नाम तथा आकारमें उपासित हो रहे हैं ।

इष्टसेवा

यहाँ इष्टसेवा यानी इष्टमूर्त्तिकी सेवा—ऐसा समझना चाहिए। इष्टसेवाके सम्बन्धमें भागवतमें कहा है कि —

स वै मनः कृष्णपदारविन्दयोर्वचांसि वैकुण्ठगुणानुवर्णने ।
करौ हरेर्मन्दिरमार्जनादिषु श्रुतिं चकाराच्युत सत्कथोदये ॥
मुकुन्दलिंगालयदर्शने दृशौ तद्भृत्यगात्रस्पर्शेऽङ्ग सङ्गम् ।
घ्राणं च तत्पादसरोजसौरभे श्रीमतुलस्या रसना तदर्पिते ॥
पादौ हरेः क्षेत्रपदानुसर्पणे शिरो हृषीकेशपदाभिवन्दने ।
कामं च दासे न तु कामकाम्यया यथोत्तमश्लोक जनाश्रयारतिः ॥

"कृष्णपदारविंदके चिंतनमें मन, वैकुण्ठके गुणकीर्तनमें वाणी, हरिका मंदिर साफ करनेमें हाथ और प्रभुकी कथा सुननेमें उसने कानोंको नियुक्त किया। भगवानकी मूर्त्तिके दर्शनमें दोनों आँखे, उसके भक्तोंके गात्रस्पर्शमें अंग, उसके श्रीपादपद्ममें अर्पित तुलसीकी सुगंध लेनेको नासिका, और

उसके चढ़ाये हुए अन्नका प्रसाद ग्रहण करानेमें जिह्वाका उपयोग किया। हरिक्षेत्रोंमें भ्रमण करनेके लिए पैरका, भगवानके चरणकी वन्दना करनेके लिए मस्तकका, और अपनी सर्व इच्छाओंका केवल प्रभुकी सेवामें (भोगादिकी तृप्तिके लिए नहीं) नियोग किया। उत्तम भक्तोंका आश्रय लेकर रहनेवाली भक्तिके लिए उसमें ऐसा प्रगाढ अनुराग उत्पन्न हुआ, और इस अनुरागके कारण सर्व विषयोंके प्रति उसको अभाव हुआ।"

जिनको मूर्त्तिमें विश्वास न बैठता हो वे प्रकृतिके भिन्न भिन्न रूपों द्वारा भगवानकी उपासना कर सकते हैं। वैदिक ऋषीगण इन्द्र, वरुण, सूर्य, अग्नि इत्यादि प्राकृतिक् शक्तिओंकी देवरूपसे पूजा किया करते थे।

> खं वायुमग्नि सलिलं महीं च
> ज्योतींषि सत्वानि दिशो द्रुमादीन्।
> सरित् समुद्राश्च हरेः शरीरम्
> यत्किं च भृत प्रणमेदनन्यः ॥
>
> (भागवत)

आकाश, वायु, अग्नि, जल, पृथ्वी, नक्षत्रादि भूतों, दिशायें, वृक्ष, नदी, समुद्र और दूसरा जो कुछ भी है वह सब हरिका शरीररूप होनेसे उसको प्रणाम करना चाहिए।

उपनिषदोंमें भी इस प्रकारकी उपासनाका उल्लेख है।

किसी भी मूर्त्तिकी अथवा प्रकृतिके स्वरूपकी ब्रह्मभावसे उपासना करनेसे अवश्य भक्तिलाभ होता है। इस प्रकारकी भक्ति गौणी भक्ति है, मुख्या नहीं पर आगे बढ़ते-बढ़ते जब सर्वत्र भगवानके दर्शन होने लगें तब ही श्रेष्ठभक्तिका लाभ हुआ है समझना चाहिए।

स्वाध्याय

धर्मग्रन्थोंका पाठ भी भक्तिमार्गमें उपयोगी साधन है। भगवानके स्वरूपका वर्णन, लीलाकीर्तन, और भक्तोंके चरित्र वगैरहका पाठ करनेसे चित्त आसानीसे भगवानमें लगता है। जिनको सत्संगका सुयोग न मिलता हो तो उनको धर्मग्रन्थोंके अभ्यास द्वारा इस अभावकी पूर्ति करनी चाहिए।

नामसाधन

नामकीर्तन, श्रवण, जप वगैरह साधनोंका उपयोग करनेसे भगवत् प्रेमका उदय होता है, और चित्तकी सारी मलिनता दूर होती है।

एवं व्रतः स्वप्रियनामकीर्त्या जातानुरागो द्रुतचित्त उच्चैः।
हसत्यथो रोदिति रौति गायत्युन्मादवन्नृत्यति लोकबाह्यः॥
(भागवत)

"जिन्होंने भगवानका नाम तथा लीला-कीर्तन-रूपी व्रत लिया है, उनके हृदयमें प्रियतमका नामकीर्तन करते-करते प्रेम उत्पन्न होता है, और इससे उनका चित्त द्रवीभूत होता है। जिससे कभी तो वे ऊँचे स्वरसे हँसते हैं, कभी रोते हैं, कभी गाते हैं और कभी लोगोंके सामने पागलकी तरह नाचते हैं।"

एकांतमें अथवा भाविकोंके समूहमे बैठकर नाम-संकीर्तन करनेसे विशेष लाभ होता है। किसी साजके साथ भजन करनेसे चित्त चाहे जितना विकारों या दुःखसे अस्थिर होगया हो, फिर भी उतने समयके लिए शांत होकर प्रभुमें तल्लीन होता है।

श्रीचैतन्यदेव कहते थे कि :—

हरेर्नाम, हरेर्नाम, हरेर्नामैव केवलम्।
कलौ नास्त्येव नास्त्येव नास्त्येव गतिरन्यथा॥

बाइबलमें भी कहा है कि :—

The name of the Lord is a strong tower, the righteous runneth into it and is safe.

(Proverbs)

ईश्वरका नाम मजबूत किले (गढ़) की तरह है, जिसका आश्रय लेकरके धार्मिक लोग निर्भय बनते हैं।

भागवतमें भी इस संबंधमें शुकदेवजी कहते हैं कि :—

एतन्निर्विद्यमानानामिच्छतामकुतोभयम् ।
योगिनां नृप निर्णीतं हरेर्नामानुकीर्तनम् ॥

"हे राजा ! फलाकांक्षियोंके लिए हरिका नाम उस उस फलका साधनरूप है, मुमुक्षुओंके लिए मोक्षका साधन तथा ज्ञानियोंके लिए ज्ञानका फलस्वरूप है, सो साधक और सिद्ध इन सबके लिए यह परम मंगलकारक है।"

हमारे एक श्रेष्ठ भक्त नरसिंह मेहता भी नामसंकीर्तनको भक्तिका प्रधान अंग मानते थे और भजनकीर्तनके लिए चांडालके यहाँ जाते भी नहीं हिचकिचाते थे, क्योंकि भक्तिशास्त्रमें कहा है, कि जहाँ भगवानके नामका कीर्तन होता है, वहाँ सब तीर्थों तथा देवोंका आविर्भाव होता है और भजनमें भाग लेनेवाला अति पापी या अशुद्ध होवे तो भी तत्काल पवित्र देवस्वरूप हो जाता है; सो भक्तिमार्गमें जातिका प्रतिबंध नहीं है। सब- मनुष्य प्रभुके बालक होनेसे प्रभुकी दृष्टिमें समान हैं।

समोऽहं सर्वभूतेषु न मे द्वेष्योऽस्ति न प्रियः ।
ये भजन्ति तु मां भक्त्या मयि ते तेषु चाप्यहम् ॥

भगवानके नामका जप भी चित्तशुद्धिके लिए उपकारक है। यह नाम अथवा मंत्र गुरु द्वारा प्राप्त होता है, उपयुक्त गुरुके पाससे मंत्र लेकर अंतःकरणपूर्वक जप करनेसे शीघ्र ही भक्तिरूपी फल मिलता है। जिस

मन्त्रका जप किया जाय उसका अर्थ भी जानना चाहिए, और जप करते समय उस मंत्रका अर्थ ध्यानमें रखकर साथ साथ इष्टदेवका चिंतन करना चाहिए।

योगशास्त्रमें कहा है कि :—

तज्जपस्तदर्थभावनम्।

"मंत्रका जप तथा उसके अर्थका चिंतन (समाधि लाभका उपाय है।)" कोई ऐसा प्रश्न करे, कि बारम्बार उच्चारण करनेसे क्या फायदा ? इसका जवाब यह है, कि पूर्वजन्मके और इस जन्मके सस्कारोंका समूह मनमें अवस्थित है। ये सस्कार सूक्ष्म अव्यक्त आकारमें रहते हैं, और उनको उद्दीपक कारण मिलनेसे जागृत होते हैं। नामजप करनेसे सूक्ष्म धर्मसंस्कार शीघ्र जागृत होते हैं, और इसलिए यह आन्तरिक सत्सगरूप है। इस जपके फलसे धीरे धीरे अन्तर्दृष्टिका विकास होता है, और मानसिक तथा शारीरिक विघ्नसमूह दूर हो जाते हैं। नामकीर्तनकी तरह नामजपसे भी चित्त भगवानके ध्यानमें एकाग्र होता है। जप करते समय बात करना या शरीर हिलाना ठीक नहीं। ऐसा करनेसे चित्तमें विक्षेप होता है। स्थिर, शात, गभीर तथा दृढ़चित्त हो जप करने बैठना चाहिए। दूसरी सब बातोंका विचार उसवक्त दूर करना चाहिए। प्रारभमें कठिनता मालूम होगी पर अभ्याससे सब ठीक हो जायगा।

जप तीन प्रकार से हो सकता है, (१) जोर से बोलकर, (२) धीमी आवाजसे, जिसमें सिर्फ होठ ही हिलते हैं, (३) केवल मनमें ही। तीसरी प्रकारका जप श्रेष्ठ है। *

जपके लिए उत्तम समय (१) ब्राह्म मुहूर्त (रातके साढ़े तीनसे सूर्य

---

* परा, पश्यन्ति, मध्यमा, वैखरी—यह चार प्रकारकी योगिक जप विधि भी है।

उदय होनेतकका समय) (२) प्रदोष (संध्याका समय) (३) नीशीथकाल (रातके बारह बजेके बादका समय, जब सारे निद्रामें पड़े हों ।)

जपके लिये योग्यस्थान :—

पुण्यक्षेत्रं नदीतीरं गुहा पर्वतमस्तकम् ।
तीर्थप्रदेशाः सिन्धूना संगमः पावनं वनम् ॥
उद्यानानि विविक्तानि बिल्वमूलं तटं गिरेः ।
देवतायतनं कूलं समुद्रस्य निजं गृहम् ॥
साधनेषु प्रशस्तानि स्थानान्येतानि मंत्रिणाम् ।
अथवा निवसेत्तत्र यत्र चित्त प्रसीदति ॥

(कुलार्णवतंत्र)

"पुण्यक्षेत्र, नदी तीर, गुफा, पर्वतका शिखर, तीर्थस्थान, नदीसंगम, पवित्रवन, निर्जन बगीचा, बिल्वके पेड़का मूल, पर्वतकी तलहटी, देवमंदिर, समुद्रका किनारा, अपना घर, अथवा जहाँ चित्त प्रसन्न हो ऐसी दूसरी कोई जगह ; (ये सब स्थान मंत्र जपके लिए उत्तम हैं ।) "

जहाँ दुष्ट, धर्म द्वेषी लोग रहते हों अथवा सर्पादि हिंसक जंतुओंका वास हो उन स्थानोंसे दूर रहना चाहिए ।

तीर्थ-परिचय

पवित्र तीर्थोंमें निवास तथा भ्रमण करनेसे हृदयमें भक्तिकी दृढ़ता होती है । भक्तिशास्त्रके मतानुसार जिस जगह पर सदा नामकीर्तन होता हो, जहाँ प्रख्यात देवस्थान हो, जहां पवित्र नदियोंका संगम होता हो, और जहाँ धर्मात्माओंका निवास हो, जहाँ कोई अवतारी पुरुष हो गए हों ; ऐसे सब स्थान तीर्थरूप होते हैं ।

श्रीमद् भागवतमें नीचे लिखी जगहोंको तीर्थस्थानोंकी तरह माना है ।

अथ देशान् प्रवक्ष्यामि धर्मादिश्रेय आवहान् ।
स वै पुण्यतमो देशः सत्पात्रं यत्र लभ्यते ॥

बिम्बं भगवतो यत्र सर्वमेतच्चराचरम् ।
यत्र हि ब्राह्मणकुलं तपोविद्यादयान्वितम् ॥
यत्रयत्र हरेरर्चा स देशः श्रेयसा पदम् ।
यत्र गंगादयो नद्यः पुराणेषु च विश्रुताः ॥
सरांसि पुष्करादीनि क्षेत्राण्यर्हाश्रितान्युत ।
कुरुक्षेत्रं गयाशिरः प्रयागः पुलहाश्रमः ॥
नैमिषं फल्गुन सेतुः प्रभासोऽथ कुशस्थली ।
वाराणसी मधुपुरी पम्पा बिन्दुसरस्तथा ॥
नारायणाश्रमो नन्दा सीतारामाश्रमादयः ।
सर्वे कुलाचला राजन् महेन्द्रमलयादयः ॥
एते पुण्यतमा देशा हरेरर्चाश्रिता श्च ये ।
एतान्देशान्निषेवेत श्रेयस्कामो ह्यभीक्ष्णशः ॥
धर्मोह्यत्रहित पुं सा सहस्राधि फलोदयः ॥

"अब धर्मादि श्रेय लाभ हो ऐसे देश गिनाता हूँ। जहाँ सत्पात्रका मिलाप हो, वह पुण्यतम देश है। जहाँ यह सब स्थावर जगम भगवानका प्रतिबिम्बरूप है, जहाँ तप विद्यादि वाले ब्राह्मणोंका कुल है, जहाँ श्रीहरिकी पूजा होती है, और जहाँ पुराणोंमें प्रसिद्ध गगादि नदियें है, वह देश श्रेयका स्थान है। हे राजन्! पुष्करादि सरोवर, सत्पुरुषोंके सेवन किए हुए क्षेत्र, कुरुक्षेत्र, गया, प्रयाग, पुलहाश्रम, नैमिषारण्य, फल्गुन, सेतु, प्रभास तथा द्वारका, काशी, मथुरा, पंपा तथा बिन्दुसर, नारायणाश्रम, नदा, सीता और रामके आश्रम, महेंद्रादि कुलाचल और जो श्रीहरिकी प्रतिमावाले हैं, वे पुण्यतम देश हैं। श्रेयकी इच्छावालोंको इन देशोंका तुरत सेवन करना चाहिए क्योंकि वहाँ किया हुआ धर्म पुरुषको सहस्रगुणा फल देता है।"

(भागवत)

आत्मार्पण

आत्मार्पण भक्तिका प्रधान अग है। श्रीमद् भगवद् गीतामें भगवान

अर्जुनको कहते हैं कि :—

यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत् ।
यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम् ॥

"जो कुछ कर्म करो, जो कुछ खाओ, जो कुछ हवन करो, जो कुछ दान करो, तपस्या करो, वह सब हे अर्जुन ! मुझे अर्पण करो ।"

भागवतमें भी कहा है कि :—

मर्त्यो यदा त्यक्तसमस्तकर्मा
निवेदितात्मा विचिकीर्षितो मे ।
तदामृतत्वं प्रतिपद्यमानो
मयात्मभूयाय च कल्पते वै ॥

"मनुष्य जब समस्त कर्मोंका त्याग करके आत्मनिवेदन करता है, तब मुझे जो भाता है वैसा करनेवाला होनेसे अमृतत्वको प्राप्त करके मेरे स्वरूपमें मिल जानेके योग्य होता है ।"

बहुतसे लोग समझते हैं, कि भगवानको ऐसे स्वार्पण करना बहुत सहल है, पर दरअसल वे समझते हैं उतना सहल नहीं है । साधारणतया मनुष्य स्वाभाविक प्रेरणाओं (Instincts) का दास है, इससे धर्मकर्म करते समय भी वह आसानीकी तरफ ध्यान रखता है । संसारसुख और ब्रह्मानन्द ये दोनों साथ-साथ भोग सकें तो बहुत अच्छा, ऐसा वह सोचता है, संसारसुख उसको इतना मीठा लगता है, कि उसको छोडनेकी बात सुनकर चक्कर आने लगता है । इस कारणसे जब उसके सुननेमें आता है, कि आध्यात्मिक विषयमें भगवानको स्वार्पण करनेसे, यानी कि उनके ऊपर सारा भार डाल देनेसे भगवान उसके कल्याणके लिए सब तरहसे संभाल रखते हैं, तब वह आनन्दसे नाचने लगता है । वह समझता है कि स्वार्पण करनेसे "दोनों हाथोंमें लड्डू" मिलता है, तो फिर कुछ भी त्यागनेकी क्या जरूरत ! वह समझता है कि मैंने आत्मार्पण किया है, सो अब मैं कुछ

भी करूँ तो उसकी जिम्मेवारी मेरे सिर नहीं है। पर यह तो उसके दुष्ट मनकी दगाबाजी है। ऐसे समर्पणसे कर्मके फलभोगमेंसे मुक्त नहीं होता, अन्तमें तो कृतकर्मका फल भोगना ही पड़ता है। सच्चे स्वार्पणमें तो बहुत मुश्किल उठानी पड़ती है। जब ससारके दु.खोंसे त्रास पानेसे साधकको विषयभोगके प्रति विरक्ति होती है, और भगवानके दर्शनके लिए वह साधन-भजनमें चित्त जोड़ता है, तथा यह साधना करते-करते जब वह समझता है, कि भगवानकी कृपा बिना साधन-भजन फलता नहीं, तब वह अत करणपूर्वक भगवानकी शरण लेता है, और अर्जुनके साथ स्वर मिलाकर कहता है कि —

शिष्यस्तेऽहम् शाधि मा त्वा प्रपन्नम् ॥

"मैं तुम्हारा शिष्य हूँ, तुम्हारी ही शरणमे आया हूँ, मुझे सच्चा उपदेश प्रदान करो" ऐसी स्थिति प्राप्त होनेसे ही भगवान भक्तोंका भार लेते हैं। भगवानके सिवाय मेरा किनारा नहीं ऐसी दृढ़ भावना हो जानी चाहिए। दुष्ट मनकी चालबाजीसे भुलावेमें आजाय भगवान ऐसे भोले नहीं हैं। ऐसी दगाबाजीसे तो "इतो नष्टस्ततो भ्रष्ट" हो जाता है। इस बातको स्पष्ट करनेके लिए श्रीरामकृष्ण परमहस नीचेका दृष्टान्त देते थे .—

एक ब्राह्मणने बहुत मेहनत करके एक सुन्दर बगीचा बनाया था। उसके अदर उसने अनेक प्रकारके फल-फूलके पेड़ लगाये थे। अपने बगीचे की शोभा देखकर ब्राह्मणको बहुत आनन्द होता था। एक दिन एक गाय बगीचेमें घुस गई और उसने बहुत नुकसान किया। उस गायको देखकर ब्राह्मणको [illegible] कि हाथमें मोटी डाग लेकर, वह उसके पीछे

था, कि 'अमुक अमुक देवोंकी शक्तिसे अमुक अमुक इन्द्रियां काम करती हैं ; सूर्यदेवकी शक्तिसे चक्षु देखते हैं, वायुदेवकी शक्तिसे कान सुनते हैं, विष्णुदेवकी शक्तिसे पैर चलते हैं, इन्द्रदेवकी शक्तिसे हाथ काम करते हैं—इत्यादि। ब्राह्मणको वह याद आया और विचारने लगा कि वास्तवमें तो गौहत्या मैंने की नहीं, मेरे हाथ द्वारा इन्द्रदेवने ही यह गौहत्या की है। इस भावमें दृढ़ होकर वह निश्चिन्त होगया। गौहत्यारूपी पाप जब ब्राह्मणके पास आया, तब उसने देखा कि ब्राह्मण तो, यह पाप इन्द्रने किया है, ऐसी भावनामें दृढ़ है। तब वह पाप इन्द्रके पास गया, और कहने लगा कि तुमने गौहत्या की है ऐसी उस ब्राह्मणकी धारणा है, तो इस पापका फल कौन भोगेगा ?"

इन्द्रने उसको कहा, तू ज़रा यहीं ठहर, अभी मैं इस बातका फैसला करके आता हूँ। ऐसा कहकर इन्द्रने मनुष्यका रूप धारण किया, और बगीचेमें आकर उसकी शोभाका बखान करने लगे। इतनेमें वह ब्राह्मण वहाँ आ पहुँचा, तब इन्द्रने उससे पूछा, "महाशय ! यह मनोहर बगीचा किसका है ? ऐसे अलौकिक वृक्ष किसने लगाए हैं ?"

ब्राह्मण यह प्रशंसा सुनकर खूब फूल गया और कहने लगा कि "यह बगीचा मेरा है, ये सब वृक्ष मैंने लगाए हैं, चलो मेरे साथ, मैं तुमको सब बगीचा दिखाऊँ।"

बगीचेमें फिरते फिरते दोनों मरीहुई गायके पास पहुँचे। ब्राह्मण तो यह बात भूल ही गया था। इन्द्रदेव मरी हुई गायको देखकर चमके, और बोल उठे, "राम राम ! यहाँ इस गायको हत्या किसने की है ?"

अबतक तो ब्राह्मण सब बातोंमें "मैंने किया है, मैंने किया है" ऐसा कहता था, अब इस सवालका जवाब वह दे नहीं सका। उसके मुँहमेंसे एक भी शब्द नहीं निकला। उस समय इन्द्रने अपना सच्चा स्वरूप धारण

किया, और उस ब्राह्मणको, कहा "पाखण्डी ! अबतकके सारे अच्छे काम तूनें किये हैं, और यह गौहत्या मैंने की है, यह कैसे ? बदमाश ! यह पाप भी तुझे ही भोगना पड़ेगा।" ऐसा कहकर वे अंतर्धान हो गए, और गौहत्याके पापने उस ब्राह्मण को पकड़ा।

सच्चे स्वार्पणमें भक्त अपना सर्वस्व भगवानको अर्पण कर देता है, फिर दूसरोंको अर्पण करने जैसा उसके पास कुछ भी नहीं रहता। श्रीमद् भगवद् गीतामें स्वार्पणका सच्चा स्वरूप समझाते हुए भगवान् कहते हैं :—

यस्य नाहंकृतो भावो बुद्धिर्यस्य न लिप्यते।
हत्वापि स इमाँल्लोकान्न हन्ति न निबध्यते॥

'मैं करता हूँ' ऐसा जिसको अभिमान नहीं है, और सर्व कर्म भगवानमें अर्पण करनेसे जिसकी सारी आसक्ति चली गई है, ऐसा मनुष्य सारी दुनियाको मार डाले तो भी वह किसीको नहीं मारता है, और किसी तरहके बंधनमें नहीं आता है।'

ऐसी स्थिति प्राप्त होनेके पश्चात् भगवान भक्तके कर्मोंका भार लेलेते हैं, और भक्तको अपने कर्मोंका फल नहीं भोगना पड़ता।

प्रकरण तीसरा

१. गुरुका प्रयोजन

जीव मात्र पूर्णता प्राप्त करेंगे, और सब कोई सिद्धावस्थाको प्राप्त होंगे। हमारी वर्तमान अवस्था भूतकालके कार्यों तथा विचारोंके फलस्वरूप है, और हमारे वर्तमानके कार्य तथा विचार हमारे भविष्य जीवनके कारणरूप होंगे। यह सच है, कि हम स्वयं ही हमारे अदृष्टके रचयिता हैं; पर इससे हमको दूसरी किसी सहायताकी जरूरत नहीं, ऐसा नहीं मानना चाहिए; इसके विपरीत बहुतसी दफे ऐसी सहायताकी जरूरत पड़ती है। ऐसी सहायता मिलनेसे आत्माकी उच्चतर शक्तियाँ परिस्फुटित होती हैं, और आध्यात्मिक जीवनमें जल्दी उन्नति प्राप्त करके साधक शुद्ध स्वभाववाला और सिद्ध बनता है।

इस प्रकारकी संजीवनीशक्ति ग्रंथों द्वारा प्राप्त नहीं हो सकती। एक आत्मा दूसरी आत्मा द्वारा ऐसी शक्ति प्राप्त करता है; दूसरे किसी भी उपायसे ऐसा लाभ नहीं मिलता। पुस्तकोंके अभ्याससे बुद्धिवृत्ति बहुत तीक्ष्ण होती है, इसमें सदेह नहीं, पर इसके साथ आध्यात्मिक उन्नति होती है, ऐसा नहीं समझना चाहिए।

पुस्तकादिके पाठसे सब कोई आध्यात्मिक शब्दोंके व्यवहारमें सुनिपुण बनते हैं, पर यथार्थ धार्मिक जीवन बितानेमें इसका बहुत ही थोड़ा उपयोग हो सकता है। इससे मालूम होता है, कि जीवात्माकी शक्तियाँ जागृत करनेके लिए दूसरी आत्मामेंसे शक्तिका संचार होनेकी आवश्यकता है।

जिस व्यक्तिकी आत्मामेंसे दूसरी आत्मामें शक्तिका संचार होता है, उसको गुरु* कहते हैं, और जिस आत्मामें शक्तिका संचार होता है उसको शिष्य कहते हैं। प्रत्येक गुरुमें इस प्रकार शक्तिका संचार करनेकी सामर्थ्य होनी चाहिए, नहिं तो वह गुरुपदके योग्य नहीं, इसी प्रकार शिष्यमें भी इस शक्तिको ग्रहण करनेका बल होना चाहिए, नहिं तो वह भी शिष्य होनेके योग्य नहीं। बीज अच्छा होना चाहिए, तथा जिस क्षेत्रमें बीज बोना हो वह भी ठीक होना चाहिए। दोनों उत्तम हों तो धर्मका अद्‌भुत विकास होता है। आश्चर्यो वक्ता कुशलोऽस्य लब्धा॥ श्रुतिमें कहा है, कि धर्मका वक्ता अद्‌भुत होना चाहिए, और उसका श्रोता भी सुनिपुण होना चाहिए।

आत्माकी धर्मपिपासा प्रबल होनेसे प्रकृत गुरु अवश्य आ मिलता है, पर कितनी ही वार क्षणस्थायी भावोच्छ्वासको यथार्थ धर्मपिपासा समझने की भूल हो जाती है। जबतक ऐसा भ्रम रहे, तबतक धार्मिक जीवनके लिए सच्ची व्याकुलता पैदा नहीं होती, और उत्तम शक्ति संचार करनेवाले गुरुकी प्राप्ति भी नहीं होती। सच्ची धर्म प्रेरणा उत्पन्न हुए विना ही जो गुरु प्राप्तिके लिए जल्दवाजी करते हैं, वे अधिकतर अज्ञानी गुरुके पंजेमें फंस पड़ते हैं, क्योंकि दुनियामें ऐसे बहुत मनुष्य हैं, जो स्वयं अज्ञानी होने पर भी अहंकारवशात् अपनेको सामर्थ्यवान समझते हैं, और गुरुपनेका अति गुरुभार उठानेको तैयार हो जाते हैं। ऐसे गुरुओंके संबधमें शास्त्र कहते हैं कि :—

---

*श्रीगुरुध्यानम्

नित्यानन्दं परमसुखदं केवलं ज्ञानमूर्त्तिं,
विश्वातीतं गगनसदृशं तत्त्वमस्यादिलक्ष्यम्।
एकं नित्यं विमलमचलं सर्वधीसाक्षिभूतं,
भावातीतं त्रिगुणरहित सद्‌गुरुं तं नमामि॥

(शुकरहस्य)

अविद्याया मन्तरे वर्तमानाः स्वयं धीराः पंडितं मन्यमानाः ।
जघन्यमानाः परियन्ति मूढाः अन्धेनैव नीयमाना यथान्धाः ॥
(मुंडक उपनिषद्)

"अज्ञानसे आच्छन्न अति निर्बुद्धि होनेपर भी अपनेको वे महापंडित समझते हैं और अंधेको राह बतानेवाले अंधेकी नाईं ये मूढ़ पुरुष दुनियामें भटकते फिरते हैं।"

—०—

२. गुरु तथा शिष्यके लक्षण

शिष्यमें नीचे बताये हुए गुणोंकी आवश्यकता है। पवित्रता, यथार्थ ज्ञानके लिए पिपासा और अध्यवसाय। अशुद्धात्मा पुरुष कदापि सच्चा धार्मिक नहीं हो सकता। काय, मन तथा वाक्य संपूर्णतया पवित्र न हो तबतक यथार्थ धर्मप्राप्ति असंभव है। धर्मप्राप्तिके लिए आंतरिक व्याकुलता प्राप्त करना बहुत मुश्किल है। आधुनिक धर्मध्वजी (धर्मकी ध्वजा धारण करनेवाले) धर्मप्राप्ति जितनी सहल बताते हैं, उतनी वह सहल नहीं है। केवल धार्मिक कथाओंके श्रवणसे अथवा धर्म संबंधी पुस्तकें पढ़नेसे हृदयमें धर्मभाव उत्पन्न नहीं होता; साधना बिना उसकी प्राप्ति संभव ही नहीं है। जबतक अंतःकरणमें सच्ची व्याकुलता जागृत न हो, और अपनी प्रवृत्तिपर जय प्राप्त न कर सके, तबतक साधकको अपनी प्रकृतिपर जय प्राप्त करनेके लिए संग्राम करना पड़ता है। किसीको जल्दी सिद्धि मिलती है, और किसीको बहुत समय तक धैर्य धारण करके बाट देखनी पड़ती है। इस प्रकार अडिग होकर जो साधनामें लगा ही रहता है, उसको अवश्य सिद्धि मिलती है।

गुरु शास्त्रोंके मर्मका वेत्ता होना चाहिए, धर्मगुरु अपने अपने संप्रदायके धर्मग्रन्थों में आसक्त होते हैं, पर पुस्तकें तो शब्दोंका समूह मात्र है। जो शक्तिमान होते हैं वे ही इनमेंसे शक्तिका संग्रह कर सकते हैं, दूसरे तो

शब्दजालमें ही फस जाते हैं। जो गुरु केवल शब्दार्थमें ही मशगूल रहते हैं, और अपनेको तर्कशक्तिके अनुसार ही चलाते हैं, वे सच्चा भाव खो देते हैं। विवेक चूड़ामणिमें कहा है कि —

शब्दजाल महारण्यं चित्तभ्रमणकारणम्।
तथा
वाग्वैखरी शब्दझरी, शास्त्रव्याख्यानकौशलम्।
वैदुष्य विदुषा तद्वद् भुक्तये न च मुक्तये॥
(विवेक चूड़ामणि)

"शब्दजाल महाअरण्यकी तरह है, यह चित्तभ्रमका कारणरूप है। शब्दयोजना, सुन्दर भाषामें व्याख्यान, शास्त्रकी व्याख्यामें नानाप्रकारका कौशल, और पढितोंकी पढिताई, ये सब भोगकी ही सामग्री है, इनके द्वारा मुक्ति नहीं मिलती।

जो गुरु उपदेश देते समय ऊपर बताई हुई पद्धतिका अवलंबन करते हैं, वे अपनी पढिताई बतानेके लिए ही प्रयत्न करते हैं, और उनके हृदयमें महान पडित गिने जानेकी लालसा होती है। दुनियाके महान् धर्माचार्योंने शास्त्रका उपदेश कभी भी इसतरह नहीं दिया। उन्होंने तो हृदयस्पर्शी, सरल, सहज भाषा द्वारा ही उपदेश किया है।

गुरु बिल्कुल निष्पाप होना चाहिए। बहुतसी दफे ऐसा भ्रमपूर्ण उपदेश देते सुननेमें आता है, कि गुरु कहे वैसा करना चाहिए, पर करे वैसा नहीं करना चाहिए, अर्थात् गुरुके चरित्रकी ओर नहीं देखना चाहिए, पर यह उपदेश यथार्थ नहीं। पदार्थ विज्ञान अथवा रसायन शास्त्रके शिक्षकके चरित्रकी ओर ध्यान न देनेसे कदाचित् चल जाय, क्योंकि इन विद्याओंमें केवल बुद्धिवृत्तिको चालना ही आवश्यक है, परन्तु आध्यात्मिक विज्ञानमें यदि आचार्य अशुद्ध चित्तवाला हो तो जरा भी धर्मलाभ नहीं होता। स्वय आध्यात्मिक सत्य उपलब्ध करनेका और दूसरेमें इस सत्यका संचार करनेका

एकमात्र उपाय हृदय और मनकी पवित्रता ही है। जबतक चित्त शुद्ध न हो तबतक भगवानका दर्शन अथवा अतीन्द्रिय सत्ताकी उपलब्धि नहीं हो सकती। इसलिए पहले धर्माचार्योंके चरित्रकी परीक्षा करनी चाहिए, इसके बाद ही उनके उपदेशकी ओर ध्यान देना चाहिए। शुद्ध चरित्र हुए बिना शुद्ध विषयोंके संबंधमें प्रभावशाली उपदेश दे ही नहीं सकता। गुरुका मन ऐसी आध्यात्मिक शक्तिसे परिपूर्ण होना चाहिए, कि अपनी इच्छामात्रसे उपयुक्त शिष्यमें धार्मिक शक्तिका संचार कर सके। केवल शास्त्रोंका अभ्यास कराके शिष्योंकी बुद्धिको तीक्ष्ण करना मात्र ही गुरुओंका काम नहीं। वर्तमान समयमें अधिकतर गुरु अपना फर्ज यही समझते हैं।

गुरुके चरित्रके संबंधमें एक दूसरी बात भी याद रखनी चाहिए। गुरु अर्थ, नाम, अथवा दूसरी किसी स्वार्थ सिद्धिके लिए उपदेश करनेवाला नहीं होना चाहिए। उसके सारे कामोंका उद्देश्य समग्र मानवजातिका कल्याण तथा उनके प्रति पवित्र प्रेम ही होना चाहिए, क्योंकि आध्यात्मिक शक्तिका संचार पवित्र प्रेम द्वारा ही होता है। यदि किसी तरह का स्वार्थ-पूर्ण उद्देश्य होगा, तो वह पवित्र प्रेमतंत्र क्षणभरमें ही छिन्न-भिन्न हो जायगा। भगवान् प्रेमस्वरूप हैं और जो उनको प्रेमस्वरूप जानते हैं, वे ही दूसरोंको शुद्ध होनेके लिए तथा प्रेमस्वरूप ईश्वरकी प्राप्तिके लिए यथार्थ उपदेश दे सकते हैं। विवेक चूडामणिमें कहा है कि :—

श्रोत्रियोऽवृजिनोऽकामहतो यो ब्रह्मवित्तमः ॥

"श्रुतिमें पारंगत, निष्पाप, कामगंधहीन, और ब्रह्मको अच्छी प्रकारसे जाननेवाला ही यथार्थ सद्गुरु है।"

धर्म कोई बेचनेकी या खरीदनेकी चीज़ नहीं, यह तो अंतरमें अनुभव करनेकी वस्तु है, पर आजकल धर्म भी व्यापारकी चीज़ गिनी जाती है! गुरुजीको जितने प्रमाणमें भेंट की जाती है, उतने ही प्रमाणमें धर्मलाभ होता है, ऐसी उलटी बात समझाई जाती है। धनवान और गरीब शिष्योंके

प्रति साधारण गुरुओंका बर्ताव बिल्कुल भिन्न ही प्रकारका देखनेमें आता है। भगवानकी मूर्त्तिके समक्ष भी ऐसा भेद देखने में आता है। धनवानको प्रसादमें लड्डू मिलता है, और गरीबको बिचारेको चिउड़ा भी महा मुश्किलसे मिलता है। कहनेका उद्देश्य इतना ही है, कि यह यथार्थ धर्म नहीं। प्रभु तथा गुरुकी दृष्टिमें समानता है, और यदि भेद होवे तो वह आध्यात्मिक स्थितिके उच्च-नीच भेदानुसार ही हो सकता है, सांसारिक स्थितिके भेदके प्रमाणसे नहीं।

अंतमें इतना ही कहना है कि जो कोई प्रेमयुक्त और श्रद्धावान होकर सत्यका अनुसंधान करता है, उसके पास परम कल्याणमय सत्यस्वरूप भगवान अपनेको प्रकट करते हैं।

—०—

३. मंत्र और दीक्षा

मंत्र क्या है? भारतवर्षके दर्शन शास्त्रोंके मतानुसार समस्त जगत् नामरूपात्मक है। मनुष्यके चित्तमें ऐसी कोई भाव तरंग उद्भव नहीं हो सकती, जो नामरूपात्मक न हो। यदि यह सच हो कि प्रकृति सर्वत्र एक नियमसे निर्मित है, तो इस नामरूपात्मक सारे ब्रह्मांडके नियम भी एक जैसे ही होने चाहिए। जैसे एक मिट्टीके पिंडको जाननेसे सारी मिट्टीका स्वभाव जाननेमें आजाता है, उसी प्रकार इस देहपिंडको समझनेसे समग्र ब्रह्मांड संबधी ज्ञान हो सकता है। रूप वस्तुके बाहरका आवरणस्वरूप है और नाम उसके अंदर रहा हुआ बीज स्वरूप है। शरीर—रूप, और मन अथवा अंतःकरण—नाम।

वृहत् ब्रह्मांडमें ब्रह्मा, हिरण्यगर्भ अथवा समष्टि—महत् पहले अपनेको नामाकारसे और फिर रूपाकारसे अर्थात् परिदृश्यमान जगत्रूपसे अभिव्यक्त करते हैं। यह व्यक्त इंद्रियग्राह्य जगत् रूप है, और इसके पीछे अनन्त अव्यक्त स्फोट है। स्फोट यानी समग्र जगत्की अभिव्यक्तिका कारण

शब्दब्रह्म। भगवान् इस शब्दब्रह्मके द्वारा ही जगत्का निर्माण करते हैं; भगवान् पहले अपनेको स्फोट रूपमें फिर ज्यादा स्थूल रूपमें यानी परिदृश्यमान जगत्के रूपमें अपनेको परिणत करते हैं। इस स्फोटका एकमात्र वाचकशब्द ॐ है। ॐकारके साथ नित्य स्फोटका नित्य-संबंध वर्तमान है; यह अलग नहीं हो सकता, इसलिए जो ऐसा कहते हैं, कि ॐकार ही नामरूप तथा जगत्का जनकस्वरूप है, वे एक तरहसे ठीक ही कहते हैं। कोई ऐसा प्रश्न उठावे, कि शब्द और भावका नित्य संबंध है यह ठीक है, पर एक भावके वाचक अनन्त शब्द हो सकते है, सो इस नामरूपात्मक जगत्को अभिव्यक्तिका कारण ॐकार ही है ऐसा किस तरह कह सकते हैं? इसका जवाब यह है, कि ॐकार ही एकमात्र सर्वव्यापी वाचक शब्द है, इसके तुल्य दूसरा कोई शब्द नहीं, क्योंकि स्फोट ही सर्वभावोंका उपादान कारणरूप है, पर यह कोई विशेष भावका पूर्ण विकास स्वरूप नहीं; यानी कि विभिन्न भावोंके बीच जो प्रभेद देखनेमें आता है, यह प्रभेद दूर करनेसे एकमात्र स्फोट ही बाकी रहता है। दूसरे किसी शब्दका स्फोटके वाचकरूपसे व्यवहार किया जावे तो स्फोट इतना विशिष्ट हो जाय कि फिर उसका स्फोटत्व ही नष्ट हो जाय, इसलिए जिस शब्द द्वारा सबसे थोड़े परिमाणमें उसमेंसे ऐसा विशेष भाव आवे वह शब्द ही सब तरहसे उसका श्रेष्ठ वाचक है। केवलमात्र ॐकार ही ऐसा शब्द है, दूसरा कोई भी नहीं।

"अ, उ, म्" इन तीनों अक्षरोंको एकसाथ बोलनेसे "अउम्" ऐसा उच्चार होता है। सर्व शब्दोंमें 'अ' सबसे थोड़े प्रमाणमें विशेष भाववाला है, इस कारणसे ही भगवान श्रीकृष्णने गीताजीमें कहा है कि :—

'अक्षराणामकारोऽस्मि'—अक्षरोंमें मैं अ-कार हूँ। 'अ' का उच्चार कंठमेंसे होता है और 'म्' यह शेष ओष्ठ शब्द है, तथा 'उ' जिह्वाके मूलसे शुरू होकर ओष्ठमें पूरा होता है। ठीक ठीक उच्चार किया जाय तो यह ॐकार सारे शब्दोंके उच्चारणकी क्रिया संपादन करता है। दूसरे किसी शब्दमें ऐसी शक्ति नहीं, इसीलिए ॐकार स्फोटके योग्य वाचक शब्द है,

और वाचक वाच्यके बीच भेद नहीं होनेसे ॐ और स्फोट दोनों एक ही पदार्थ हैं, ऐसा सिद्ध हुआ। "प्रणव तस्य वाचक." एकमात्र प्रणव ही इसका वाचक है।

उपासकके मनमें जब जो तत्त्व प्रबल होता है, तब उसके मनमें उसी भावका उदय होता है। उसका फल यह होता है, कि एक ही ब्रह्म भिन्न-भिन्न रूपसे तथा भिन्न-भिन्न गुणोंसे प्राधान्ययुक्त दिखाई देता है, उसी तरह यह जगत् भी नानारूपसे दिखाई देता है। इन सब भावोंके अलग-अलग वाचक शब्द हैं। महापुरुषोंकी गभीर आध्यात्मिक अनुभूतियोंसे उत्पन्न हुए ये वाचक शब्दसमूह यथासभव भगवान और जगत् संबंधी जो विशेष विशेष भाव हैं, उनको प्रकाशित करते हैं। जिस तरह ॐकार अखंड ब्रह्मवाचक है, उसी प्रकार दूसरे मंत्र भी परम पुरुषके खंड खंड भावोंके वाचक हैं। ये सब भगवानका ध्यान धरनेमें तथा प्रकृत ज्ञान प्राप्त करनेमें सहायक रूप हैं।

ॐकार ध्यानमें सबको ही अधिकार दिया गया है :—

"ओमित्येकाक्षर ब्रह्म ध्येयं सर्वमुमुक्षुभिः।

(ध्यान विन्दु)

दीक्षा

तंत्र शास्त्रमें तीन प्रकारकी दीक्षाकी बात है . शांभवी, शाक्ती, और मांत्री।

शांभवी दीक्षामें श्रीगुरुके दर्शन, स्पर्शन, और सभाषणादि मात्रसे ही जीवमें ज्ञानका उदय होता है।

शाक्ती दीक्षामें ज्ञानचक्षु गुरु दिव्यज्ञानकी सहायतासे शिष्यके भीतर अपनी शक्तिका प्रवेश करके उसमें धर्मभावको जाग्रत कर देता है।

मान्त्री दीक्षामें मंडलअंकित घटस्थापन, और देवताकी पूजापूर्वक शिष्यके कानमें मंत्रोच्चारण किया जाता है।

रुद्रजामल तंत्रमें कहा है कि, शांभवी और शाक्ती दीक्षा "सद्योमुक्तिविधायिनी" है।

शाक्ती च शाम्भवी चान्या सद्योमुक्तिविधायिनी

\+ + +

सिध्दैः स्वशक्ति मालोक्य तया केवलया शिशोः।
निरुपायं कृता दीक्षा शाक्तेयी परिकीर्तिता ॥
अभिसन्धि विनाचार्यशिष्ययोरुभयोरपि ।
देशिकानुग्रहेणैव शिवताव्यक्तिकारिणी ॥

"सिद्ध पुरुष किसी प्रकारके वाह्यिक उपायकी मदद विना ही केवलमात्र अपनी आध्यात्मिक शक्ति द्वारा शिष्यके अंदर दिव्य ज्ञानोदय कराते हैं, उसको शाक्ती दीक्षा कहते हैं।"

"शांभवी दीक्षामें आचार्य और शिष्यके मनमें दीक्षाप्रदान अथवा दीक्षा ग्रहणका संकल्प पहलेसे नहीं होता। एक दूसरेके दर्शन मात्रसे आचार्यके हृदयमें सहसा करुणाका उदय होता है, और शिष्यपर वे कृपा करते हैं, इससे शिष्यके अंदर अद्वैतवस्तु संबंधी ज्ञानोदय होता है, और वह शिष्यत्व स्वीकार करता है।"

ऐसी दीक्षामें शास्त्र निर्दिष्ट-कालाकालके विचारकी आवश्यकता नहीं रहती।

तंत्रमें ऐसे गुरुओंको दिव्यभावयुक्त कहकर वर्णित किया है। ये कृपा, अथवा इच्छा या स्पर्शके द्वारा ही शक्तिका संचार करके शिष्यको क्षणभरमें समाधिस्थ करा सकते हैं, अथवा आंशिक भावमें यह शक्ति जागृत करके

एक ही जन्ममें शिष्यको पूर्ण उपलब्धि होवे और वह कृतकृत्य होवे ऐसी व्यवस्था करते हैं।

—०—

४. अवतार

उपरोक्त गुरुओंसे भी अधिक उन्नत दूसरे एक प्रकारके गुरु हैं। शास्त्रमें ऐसे महापुरुषोंको ईश्वरावतार कहकर वर्णित किया है। ऐसे गुरु स्पर्श द्वारा अथवा इच्छामात्रसे दूसरों के अंतरमें भगवद्‌भावका सचार कर सकते हैं। उनकी इच्छा होते ही अति दुराचारी व्यक्ति भी एक क्षणमें परम साधुपुरुष बन जाता है। ऐसी आत्माए गुरुओंकी भी गुरु हैं, और मनुष्य शरीरमें भगवानका सर्वश्रेष्ठ आविर्भावरूप हैं। ऐसे गुरुओंकी सहायता मिलनेसे भगवानकी उपलब्धि बहुत शीघ्र होती है। ऐसे महात्मन् गुरुओंको नररूपधारी ईश्वर कहनेमें जरा भी असत्य नहीं। साधारण मनुष्य ईश्वर सबंधी इससे विशेष कल्पना कर नहीं सकते, और कदाचित् जो वे ऐसा करने लगते हैं, तो ईश्वरके अप्राकृत तथा असभवित रूपकी कल्पना कर बैठते हैं।

कहते हैं कि—एक अज्ञानी मनुष्य शिवजीकी मूर्त्ति बनाने बैठा, पर मूर्त्ति पूरी हुई तो देखनेमें आया, कि शिवजीके बदले एक बंदरकी मूर्त्ति तैयार हुई है। इससे समझना चाहिए कि अवतारी पुरुषों द्वारा ही ईश्वरकी उपासना करना यह साधारण बुद्धिवाले मनुष्योंके लिए सहज और फलप्रद है। जबतक मनुष्य 'मानवस्थितिमें' होता है, तबतक उसको मनुष्य द्वारा ही इश्वरको उपासना करनी चाहिए। इस स्थितिके जानेके बाद यानी 'देवस्थिति' प्राप्त होनेके पश्चात् वह अपना सच्चा स्वरूप समझ सकता है।

[मनुष्यके तीन वर्ग हैं। (१) पशु-मानव (२) मानव (३)

देव-मानव। अधिकांश लोग पहली स्थितिमें ही वर्तमान हैं, और उनका मन पशुवत् इन्द्रियादिके भोगोंमें ही लगा रहता है। दूसरी स्थितिमें पशुभाव कम होता है, और बुद्धिवृत्ति प्रबल बनती है। तीसरी स्थितिमें बुद्धिवृत्ति प्रबल तो होती ही है, उसके साथ उसमें देव-भाव प्रकट होता है और भोगोकी तरफ लक्ष ही नहीं रहता।]

बहुतसे लोग ईश्वरावतारके विरुद्धमें दलील करते हैं। इनलोगोंको ऐसे पूछना चाहिए, कि ईश्वर सबंधी तुम्हारी धारणा क्या है? सर्वशक्तिमत्ता, सर्वव्यापिता इत्यादि जिन मोटे मोटे शब्दोंका उपयोग वे करते हैं, इन शब्दोंके सिर्फ जोड़नेके सिवाय वे और क्या समझते है? इन शब्दोंके केवल उपयोगसे हृदयमें किसी भी तरह भाव नहीं जाग्रत होता। इन शब्दोंका व्यवहार करनेवाले अनुभवशून्य पंडितों और निरक्षर मूर्खोंके बीच क्या अन्तर है? हाँ, इतना अन्तर जरूर है, कि निरक्षर मूर्ख ज्यादा शात प्रकृतिके हैं और वे दुनियाकी शांतिको भंग नहीं करते, पर ये बड़े कहलानेवाले पंडित तो दुनियामें अशाति पैदा करते हैं। प्रत्यक्ष अनुभूतिके सिवाय जो धर्म है वह धर्म नामके योग्य नहीं। आडम्बरी वाक्योंके प्रयोगसे तो सिर्फ समयका दुरुपयोग ही होता है। अंतरात्माके गभीरतम प्रदेशमें जो अनुभव होता है, उसको ही प्रत्यक्षानुभूति कहते हैं।

दो प्रकारके मनुष्य भगवानकी मनुष्यरूपसे उपासना नहीं करते। एक तो नर-पशु, जिनको किसी प्रकारका धर्मज्ञान नहीं, और दूसरे परमहंस, जो मनुष्यमें पाई जानेवाली सब प्रकारकी दुर्बलताओंको पार करके मानव-प्रकृतिकी सीमासे बाहर चले गए हैं। समग्र प्रकृति उन लोगोंकी नजरमें आत्मस्वरूप प्रतिभात होती है। केवल ये लोग ही भगवानकी स्व—रूपमें उपासना कर सकते हैं। ऐसे जीवन्मुक्त पुरुषोंको दूसरी अलग उपासनाकी आवश्यकता नहीं है।

भगवान मनुष्योंकी दुर्बलता समझते हैं, और इसीलिए मनुष्योंके हितके लिए नर-रूप धारण करके अवतार लेते हैं।

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत ।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम् ॥
परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम् ।
धर्मसंस्थापनार्थाय संभवामि युगे युगे ॥
अवजानन्ति मां मूढा मानुषीं तनुमाश्रितम् ।
परं भावमजानन्तो मम भूतमहेश्वरम् ॥ ※

(भगवद्‌गीता अ० ४ श्लोक ७, ८ और अ० ९ श्लोक ११)

"जब जब धर्मकी ग्लानि होती है, और अधर्मका अभ्युत्थान होता है, तब तब मैं साधुओंकी रक्षाके लिए, दुष्टताको नाश करने के लिए और धर्मकी पुनः स्थापना करनेके लिए युग युगमें अवतार लेता हूँ। अज्ञ लोक मेरा परम स्वरूप जानते नहीं, इससे जब मैं मनुष्यरूप धारण करता हूँ तब वे मेरा उपहास करते हैं।"

अवतारी पुरुषोंका आचरण

साधारणतया मनुष्योंकी ऐसी धारणा होती है, कि अवतार मनुष्य-देह धारण करके अद्‌भुत कार्य ही करते हैं, और उनका व्यवहार असाधारण प्रकारका ही होता है। ऐसी मान्यता भूलसे भरी हुई है। "नरलीलाके समय अवतार भी साधारण मनुष्यकी तरह ही व्यवहार करते हैं। नरदेह धारण करनेसे भगवानको भी सुख दुःख भोगना पड़ता है और मनुष्योंकी तरह उद्यम और तपस्या द्वारा सारे विषयोंमें सफलता प्राप्त करनी पड़ती है," ऐसा श्रीरामकृष्ण परमहंस कहते थे, और जगत्‌का आध्यात्मिक इतिहास भी इस सत्यकी साक्षी देता है।

※ तच्च दिव्यं स्वशक्तिमात्रोद्‌भवात् ॥
मुख्यं तस्य हि कारुण्यम् ॥ (शाण्डिल्य)
नृणां निःश्रेयसार्थाय व्यक्तिर्भगवतो नृप ॥
(भागवत)

इसके उपरांत साधारण जनसमाजकी ऐसी धारणा होती है, कि भगवान अवतार लेकर सत्यलाभके लिए तपश्चर्या आदि करते हैं, सो दिखावा मात्र है। यह अभिप्राय भी ठीक नहीं। अगर भगवान नरदेह धारण करें, पर नरके जैसा व्यवहार न करें तो फिर नरदेह धारण करनेकी कुछ भी सार्थकता नहीं रहती।

भगवान मनुष्यदेह धारणकरके मनुष्यलीला करते हैं, उस समय अनेकांशमें साधारण मनुष्यकी तरह उनमें भी दृष्टि-हीनता, अल्पज्ञता आदि खामियाँ दिखाई देती हैं, और साधारण मनुष्योंकी तरह साधनादि उद्यम करके ही उनको भी ये खामियाँ दूर करनेका मार्ग ढूँढ निकालना पड़ता है। जबतक यह मार्ग वे ढूँढ नहीं लेते, तबतक उनके अंत:करणमें अपने देवस्वरूपका आभास समय समय पर हुआ करता है, पर बारबार वह मायारूपी आवरणसे ढक जाता है। अनेक मनुष्योंके कल्याणके लिए ही मायाके आवरणको स्वीकारकर, भगवान हमारी तरह 'आलोक अंधकार' के राज्यमें रास्ता ढूँढ निकालनेका प्रयत्न करते हैं, परंतु स्वार्थ सुखकी लेशमात्र भी गंध उनमें नहिं होनेसे वे हमारी अपेक्षा इस मार्गपर विशेष प्रकाश देखते हैं, और अंतरकी समग्रशक्तिको एकमुखी करके थोड़े समयमें ही वे जीवनसमस्याका हल निकाल लेते हैं; इसके पश्चात् लोगोंका कल्याण करनेमें अपनेको लगा देते हैं। आध्यात्मिक इतिहास देखनेसे इस बातके अनेक प्रमाण मिलेंगे।

—o—

५. सच्ची भक्ति और महापुरुष

रामकृष्ण परमहंस कहते थे कि :—जिनमें सच्चो भक्तिका उदय हुआ है उनको सामान्य वस्तुके दर्शनसे भी दिव्यभावका उद्दीपन होता है। "मृदंग इस मिट्टीसे बनते हैं" ऐसा सुनकर चैतन्यदेवको समाधि हो गई थी। उनके मनमें ऐसी विचारशृंखला चली कि इस मिट्टीसे मृदंग बनते हैं, मृदंगको बजाकर हरिनाम कीर्तन होता है, वह हरि सर्व प्राणियोंके

प्राणस्वरूप हैं, और सुन्दरातिसुन्दर हैं, ऐसे विचारोंसे उनका चित्त एकदम स्थिर हो गया। यथार्थ भक्तोंमें इसी तरह बहुत आसानीसे भावका उद्दीपन होता है।

सकाम भक्ति हानिकारक है

सकाम भक्ति अर्थात् अपनी आवश्यकताओंकी पूर्तिकी इच्छासे की हुई भक्ति, भक्तको सत्यदृष्टिको उच्च अवस्थामें नहीं ले जाती। स्वार्थपरता हमेशा भयकारक है, और यह भय मनुष्यको दुर्बलसे भी दुर्बल बनाता है। स्वार्थलाभसे मानवमनमें अहङ्कार उत्पन्न होता है, और वह बहुतसी दफे आलस्यको उत्तेजन देकर मनुष्यको सत्यवस्तुकी तरफ जानेमें बाधा डालता है। सच्ची भक्ति भक्तको उपास्यके अनुरूप बनाती है। सब जातियोंके धर्मग्रन्थोंमे यह बात सुप्रसिद्ध है। क्रॉससे विद्ध जीसस क्राइस्टकी मूर्त्तिमें जो भक्त चित्त समाहित करते हैं, उनके हाथ पैरमेंसे भी रक्त निकलने लगता है, श्रीमती राधिकाके विरह दु खानुभवमें निमग्नचित्त श्रीचैतन्यदेवके शरीरमें भयंकर दाह उत्पन्न हो जाती थी, और कितनी ही बार उनकी अवस्था मृत जैसी भी हो जाती थी। ध्यानस्तिमित बुद्धदेवकी मूर्त्ति देखकर बौद्ध भक्त काफी समयतक स्थिर चित्त हो ध्यानमें बैठ सकते हैं। यह भी साधारण अनुभवकी बात है, कि किसी व्यक्तिमें अत्यत प्रीति उत्पन्न होनेसे मनुष्य अनजानमें अपने प्रेमास्पदके अनुरूप बाह्य आचारादि करने लगता है, तथा विचार प्रणालिका भी उसके जैसी ही हो जाती है।

धर्म-जगत्मे प्रत्येक महापुरुषका जीवन एक साँचेकी तरह है। उनकी शिष्यपरपरा इस साँचेमे अपने जीवनको ढालकर तद्रूप बननेकी कोशिश करती है। मानवकी शक्ति अल्प है, वह जिंदगीभर मेहनत करनेपर भी ठीकठीक इस आदर्शके अनुरूप बन नहीं सकता, सौभाग्यसे कोई अगर ज़रा भी उनके जैसा हो जाय तो हम सिद्ध-पुरुष कहकर उसका सन्मान किया करते हैं। सिद्ध-पुरुषोका रहन सहन, भाषा, विचार आदि शारीरिक और

मानसिक वृत्तियाँ पूर्व वर्णित महापुरुषोंसे मिलती–जुलती होती हैं। उन महापुरुषोंके जीवनमें जिस महाशक्तिका प्रथम अभ्युदय हुआ था, इन सिद्धपुरुषोंका मन तथा देह भी थोड़े प्रमाणमें उसी शक्तिके धारण, संरक्षण, और संचारका यंत्रस्वरूप बनता है। इसीतरह महापुरुषप्रेरित धर्मशक्तियोंका संरक्षण भिन्न-भिन्न जातियाँ अनादि कालसे कर रही हैं।

धर्म जगत्‌में जो महापुरुष अदृष्टपूर्व नया धार्मिक जीवन बताते हैं उनको जगत् ईश्वरका अवतार मानकर पूजता है। अवतार धर्म-जगत्‌में नये मत और नये पथ बताते हैं, और स्पर्शमात्रसे दूसरोंमें धर्मशक्तिका संचार कर सकते हैं, उनकी दृष्टि कभी भी अनित्य संसारके काम-कांचनादिको तरफ आकृष्ट नहीं होती। उनके जीवनकी आलोचना करनेसे मालूम पड़ता है, कि उन्होंने दूसरोंको मार्ग बतानेके लिए ही जन्म ग्रहण किया है। भोगसाधन या मुक्तिलाभ उनके जीवनका उद्देश्य नहीं होता, पर दूसरोंके दुःखमें सहानुभूति और दूसरोंके प्रति अगाध प्रेमही उनको कार्यमें प्रेरणा देकर, उनके दुःखनिवारणका मार्ग ढूँढ निकालनेमें हेतुस्वरूप बनाता है।

—०—

९. दैव और पुरुषकार

मनुष्यमें स्वतंत्र इच्छानुसार कार्य करनेकी शक्ति है या नहीं? इस विषयमें एक समय भक्तोंमें परस्पर चर्चा हुई; फिर निराकरणके लिए वे श्रीरामकृष्णके पास गये। उन्होंने जवाब दिया कि, "किसीकी इच्छा स्वतंत्र नहीं है! ईश्वरकी इच्छानुसार ही सब काम हुआ करते हैं, और भविष्यमें भी होंगे। साधक इस बातको साधना पूर्ण होनेके बाद ही समझता है। सच बात यह है, कि जैसे खूँटे बँधी हुई गाय, उसको बाँधी हुई रस्सीकी लंबाई के जितनी जगहमें ही अपनी इच्छानुसार चल फिर सकती है, उसी तरह

मनुष्यकी स्वतंत्र इच्छाके संबंधमें भी समझना चाहिए। गायको बाँधनेवाले मनुष्यका पहलेसे ही निश्चय किया हुआ होता है कि गाय कितनी जगहमें फिरेगी, उसी तरह ईश्वर भी मनुष्यको अमुक शक्तियाँ प्रदान करते हैं, और उन शक्तियोंका इच्छानुसार व्यवहार करनेकी छूट भी उसको देते हैं। इससे मनुष्य समझता है कि वह स्वतंत्र है, परंतु गाय जैसे रस्सीसे खूँटे बँधी हुई है, उसी तरह मनुष्यकी स्वतंत्रताकी हद भी निश्चित की हुई होती है। अगर मनुष्य सच्चे अंतःकरणपूर्वक प्रार्थना करे तो ऐसा हो सकता है कि, ईश्वर उसको दी हुई शक्तिमें वृद्धि करदें अथवा उसको बिल्कुल ही बंधनमुक्त करदें। (शास्त्रमें इस अवस्थाको जीवन्मुक्तकी दशा कहकर बताया है।) गायके संबंधमें जैसे मालिक उस गायको बाँधी हुई रस्सीको लंबाई बढ़ा सकता है, अथवा गायको दूसरी जगह बाँध सकता है या गायको बिल्कुल खुली भी छोड़ सकता है, उसीप्रकार ईश्वर और मनुष्यके विषयमें भी समझना चाहिए।"

यह बात सुनकर उन भक्तोंने पूछा कि, "तब क्या साधन-भजन करना मनुष्यके हाथकी बात नहीं? क्या सब ऐसा कह सकते हैं, कि जो कुछ मैं करता हूँ वह सब भगवानकी इच्छासे ही करता हूँ?"

श्रीरामकृष्णने जवाब दिया कि, "सिर्फ मुँहसे कहनेसे क्या हो? साधन भजन करना मनुष्यके हाथकी बात नहीं, अगर हमारे हाथकी बात होती तो सब ऐसा कर सकते। जितनी शक्ति भगवानने दी है उतनीका योग्य व्यवहार न करे, तबतक भगवान उसको और ज्यादा शक्ति नहीं देते। इसलिए पुरुषकार—उद्यमकी ज़रूरत है, तुम देखते नहीं कि सब कोई उद्यम करनेके पश्चात् ही ईश्वरकृपाके अधिकारी होते हैं? उद्यम करनेसे उनकी कृपा होती है, और इससे दस जन्मोंके कर्मोंका फलभोग एक जन्ममें ही पूरा हो जाता है, पर ईश्वरपर भरोसा रखकर थोड़ा बहुत उद्यम तो ज़रूर करना पड़ता है।"

श्रीमद् भगवद् गीतामें भी इस बातके समर्थनमें श्रीकृष्ण भगवानने १८ वें अध्यायमें कहा है :—

ईश्वरः सर्वभूताना हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति।
भ्रामयन्सर्वभूतानि यंत्रारूढानि मायया॥

—०—

७. ईश्वरका स्वरूप

"जिसके द्वारा जगत्‌की उत्पत्ति, स्थिति तथा लय होता है, उसका नाम ईश्वर है।" वह अनन्त, शुद्ध, नित्यमुक्त, सर्वशक्तिमान, सर्वज्ञ, परम कारुणिक, गुरुओंका भी गुरु और अनिर्वचनीय प्रेमस्वरूप है। यह सब सगुण ईश्वरकी संज्ञा है। पर यह याद रखना चाहिए कि भक्तोंके सगुण ईश्वर निर्गुण परब्रह्मसे अलग नहीं है। ब्रह्मका निर्गुण स्वरूप "अशब्दमस्पर्शमरूपमव्ययं तथाऽरसन्नित्यमगन्धवच्चयत्" तथा "अनाद्यनन्तं महतः परं" (कठोपनिषद्) शब्द रहित, स्पर्श रहित, रूप रहित, अव्यय तथा रस रहित, नित्य और गध रहित, अनादि, अनन्त और महत्‌से भी पर होनेसे वह प्रेम अथवा उपासनाके अनुकूल नहीं, इससे भक्त सगुण ब्रह्मकी उपासना करते हैं।

यतो वा इमानिभूतानि जायन्ते, येन जातानि जीवन्ति।
यत् प्रयन्त्यभिविशन्ति, तद् विजिज्ञासस्व, तद् ब्रह्मेति॥

"जिसमेंसे सारे भूत उत्पन्न होते हैं, और जन्म लेनेके बाद जिसमें करते हैं तथा प्रलयकालमें जिसमे प्रवेश करते हैं, उसको जाननेके लिए अवस्थान इच्छा कर, वह ब्रह्म है।"

सदेव सोम्येदमग्रमासीदेकमेवाद्वितीयं।
तदैक्षत बहु स्यां प्रजायेयेति, तत्तेजो सृजतेति॥

"हे वत्स ! आरम्भमें एक अद्वितीय ब्रह्म थे, जिन्होंने ऐसा विचार किया कि मैं विविध सृष्टिकी उत्पत्ति करूँ । फिर उन्होंने यह तेज उत्पन्न किया ।"

ब्रह्मकी निर्गुण अवस्थाको श्रुति 'नेति' 'नेति' शब्दोंमें वर्णन करती है, क्योंकि वहाँ ज्ञाता, ज्ञेय, और ज्ञान नहीं है, 'मैं' 'तू' का भान भी नहीं है । यह स्थिति वाक्य और मनके अगोचर है । निर्गुण ब्रह्मके साधक इस अवस्थाकी उपलब्धि कर सकते हैं, पर जो साधक इस अवस्थाको प्राप्त नहीं कर सकते, अथवा ऐसी अवस्था प्राप्त करनेकी इच्छा नहीं रखते, वे इस एक अद्वितीय ब्रह्मको प्रकृति, आत्मा और इन दोनोंके अतर्यामी ईश्वर,—ऐसे तीन विभागोंमें बाँटकर फिर उपासना करते हैं । जब प्रह्लाद् अपने व्यक्तित्वको भूल गया तब जगत् तथा उसका कारण उसको दिखाई देना बंद होगया, नामरूपसे अविभक्त मात्र एक अनन्त रूप ही उसके देखनेमें आया । फिर जब—मैं प्रह्लाद् हूँ, ऐसा बोध उसको हुआ कि तुरंत ही उसके सामने जगत् तथा अशेष कल्याणगुणके आधारस्वरूप जगदीश्वर प्रकट हुए । वृन्दावनकी गोपियोंकी भी ऐसी ही अवस्था हुई थी । जबतक वे अहंज्ञानसे शून्य थीं, तबतक वे अपनेको कृष्णरूपसे देख रही थीं, पर जैसे ही वे कृष्णको उपास्यरूपसे देखने लगीं कि तुरत ही फिरसे उनको गोपीभाव प्राप्त हुआ । तब उनके समक्ष —

तासामाविरभूच्छौरिः स्मयमानमुखाम्बुजः ।
पीताम्बरधरः स्रग्वी साक्षान्मन्मथमन्मथः ॥
(भागवत दशमस्कंध)

"मुखकमलमें मृदुहास्ययुक्त, पीताम्बरधारी, मालाओंसे विभूषित, साक्षात् कामदेवको भी विचलित करनेवाले कृष्ण आविर्भूत हुए ।"

सत्व, रजस्, और तमोगुणमयी प्रकृतिके दो विभाग हैं . विद्या-माया और अविद्या । सत्वगुणकी निर्मलताको लेकर पहले विभागको विद्या-माया,

और रजोगुण तथा तमोगुणकी मलिनताको लेकर दूसरे विभागको अविद्या कहते हैं। मायामें प्रतिबिम्बित चैतन्य मायाको वशमें करके सर्वज्ञ और ईश्वर नामसे प्रसिद्ध होता है, और उक्त अविद्यामें प्रतिबिम्बित चैतन्य अविद्याके आधीन होनेसे जीव शब्दसे पहचाना जाता है। इससे मालूम पड़ेगा कि ब्रह्मचैतन्य ही ईश्वर और जीवका प्रकृत स्वरूप है। परब्रह्म ही मायाशक्ति रूपी उपाधिके संयोगसे ईश्वररूपसे प्रकाशित होता है; यानी कि ब्रह्मचैतन्य निरुपाधिक अवस्थामें परब्रह्म नामसे, और मायाशक्ति रूपी उपाधिसे युक्त होता है, तब ईश्वर नामसे पहचाना जाता है; जब अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय तथा आनन्दमय,—ऐसे पँचकोष रूपी उपाधिद्वारा युक्त होता है, तब जीव शब्दसे संबोधित होता है।

कोषोपाधिविवक्षाया याति ब्रह्मैव जीवताम् ॥

(पंचदशी)

निराकार निर्गुण तथा साकार सगुण ईश्वरके रूप और परस्परके संबंधके विषयमें बहुत झगड़ा हुआ करता है। इनकी उपासना करनेकी पद्धतिमें भी बहुत मतभेद देखनेमें आता है। इन सब विषयोंकी मीमांसा श्रीरामकृष्ण परमहंसने नीचे लिखे अनुसार की है :—

एकसमय एक भक्तने श्रीरामकृष्णसे पूछा, कि ईश्वर साकार है या निराकार ?

इस प्रश्नके उत्तरमें परमहंस देवने कहा कि, "ईश्वरकी 'इति' नहीं हो सकती। वे निराकार भी हैं और साकार भी हैं। भक्तके लिए वे साकार बनते हैं, पर जो ज्ञानी है, यानी कि जो जगत्को स्वप्नवत् मानते हैं उनके लिए ईश्वर निराकार है। भक्त ऐसा समझता है, कि मैं एक वस्तु हूँ और जगत् एक दूसरी वस्तु है। इस कारणसे ईश्वर उसको व्यक्ति (Personal God) रूपसे दर्शन देते हैं। ज्ञानी—वेदान्तवादी केवल 'नेति' 'नेति' विचार करता है, और अनुभव करता है कि मेरा 'मैं' पना मिथ्या

है, जगत् भी मिथ्या है, स्वप्नवत् है। ज्ञानी ब्रह्मका "बोधेबोध" (निजबोधरूपम्) करता है, परन्तु ब्रह्म क्या है यह मुँहसे वर्णन नहीं कर सकता। किस तरह यह मालूम है? जैसे कि एक सच्चिदानद समुद्र है, जिसका आर-पार नहीं, जिसके बीच बीचमें भक्तिरूपी हिमके प्रभावसे बरफ जम गई है, यानी कि ब्रह्मने भक्तके लिए साकार भाव धारण किया है। ज्ञानसूर्यका उदय होनेसे यह बरफ गल जायगी। फिर ईश्वरका व्यक्ति (Personal God) रूपसे बोध नहीं होगा। तब उसको कोई रूप भी देखनेमें नहीं आवेगा। इस अरूपकी बात कौन कह सकता है? बोलनेवाला ही नहीं रहता, बोलनेवालेका 'मैं-पना' ही ढूँढनेसे नहीं मिलता। किस तरह कहूं? एक नमकका पुतला समुद्र मापनेको गया, किन्तु जैसे ही वह समुद्रमें उतरा कि गलकर उसमें मिल गया। फिर खबर देने कौन आवे? यह सच है कि भक्तके लिए ब्रह्म सगुण है, व्यक्तिरूप से आकार धारण करके दर्शन देते हैं, प्रार्थना सुननेवाले भी वे ही हैं, तुम प्रार्थना करते हो सो उन्हींकी करते हो। ऐसे रूपमें कोई न माने तो कोई हरज नहीं। ईश्वर एक व्यक्ति विशेष है, ऐसा माने तो भी चल सकता है—जो प्रार्थना सुनता है, तथा सृष्टि, स्थिति, प्रलयादि करता है और अनन्त शक्तिशाली है।"

उस भक्तने फिर पूछा कि,—"महाराज! ईश्वरके रूपके सबधमें इतना ज्यादा मतभेद होनेका क्या कारण है? कोई कहता है साकार और कोई कहता है निराकार, इसके उपरात साकारवादी विविधरूप (विष्णु शिवादि) की बातें करते हैं। इतना ज्यादा झगड़ा क्यों?

श्रीरामकृष्ण :—"जो भक्त जिस रूपको देखता है, वह ईश्वरको उस एक ही रूपवाला समझता है। वास्तवमें झगड़ेका कोई कारण ही नहीं। किसी तरह भी एक दफे वह प्राप्त हो जाय, तो वह तुमको सब समझा देगा। तुम तो उस मुहल्लेमें ही नहीं गये तो फिर तुमको खबर कहाँ से पड़े? एक दृष्टांत सुनो। एक मनुष्य जगल गया था, वहा उसने एक वृक्षपर एक प्राणी

देखा। वापस आनेपर उसने दूसरेको कहा कि, मैंने अमुक पेड़पर लाल रंगका एक बहुत ही सुन्दर जीव देखा। दूसरे मनुष्यने जवाब दिया कि मैंने भी उस पेड़पर वह प्राणी देखा है, पर उसका रंग लाल कहाँ है? वह तो नीले रगका है? तीसरेने यह बात सुनकर कहा, कि तुम सब भूलते हो, उसका रंग तो पीला है। इस प्रकार भिन्न-भिन्न मनुष्य भिन्न भिन्न रंगकी बातें करने लगे और अदर-ही-अदर वादविवाद होने लगा। अन्तसे ये सब पेड़के पास गए। वहां उन्होंने एक मनुष्यको बैठे हुए देखा। पूछनेपर उसने उत्तर दिया कि, 'मैं इस पेड़के नीचे ही रहता हूं, और उस प्राणीको अच्छी तरहसे पहचानता हू। तुम सबका कहना ठीक है। कितनी ही बार लाल, कितनी ही दफे नीला और कितनी ही बार पीला—इस तरहसे यह भिन्न भिन्न रंग धारण करता है, क्योंकि यह 'बहुरूपी' है। कितनी ही दफे तो इसका कोई रग हो नहीं होता!, कहनेका भावार्थ यह है, कि जो व्यक्ति सतत ईश्वर चिंतन किया करते हैं, उनको ही मालूम पड़ता है, कि ईश्वर विविध रूपसे और विविध भावसे दर्शन देते हैं, वे निर्गुण और सगुण भी हैं। दूसरे मनुष्य तो केवल झगडेमें पडकर क्लेश ही पाते हैं।"

"किन्तु वेदान्त विचारके आगे ऐसा रूप टिक नहीं सकता। वेदान्तका शेष सिद्धान्त यह है, कि ब्रह्म सत्य ओ, जगत् मिथ्या है। जबतक मैं भक्त हूँ ऐसा अभिमान रहता है, तबतक ईश्वरका रूपदर्शन होता है, और उसका व्यक्तिरूपसे बोध होना समव है। विचाररूपी आँखसे देखनेसे मालूम पड़ता है, कि भक्तका अहभाव उसके स्वरूपसे ज़रा दूर रखता है। सूर्य दूरसे छोटा देखनेमें आता है, किन्तु नजदीक जानेसे इतना मोटा दिखाई देगा, कि उसकी मोटाईका हमको ख्याल भी नहीं आ सकता; आकाश दूरसे नीलवर्णका दिखाई देता है, किन्तु पास जानेसे उसका कोई रूप ही देखनेमें नहीं आवेगा। इसी तरह ब्रह्मका स्वरूप कैसा है यह कोई कह नहीं सकता। पर इतना याद रखना चाहिए, कि जबतक तुम सत्य हो (यानी कि तुम स्वयको सत्य मानते हो) तबतक जगत् भी सत्य है,

ईश्वरके विविध रूप भी सत्य हैं, और ईश्वरका व्यक्ति रूपसे बोध भी सत्य है।"

ज्ञानी ब्रह्मको जाननेकी इच्छा करता है, और भक्त षडैश्वर्यपूर्ण सर्वशक्तिमान भगवानको चाहता है। पर वस्तुत: ब्रह्म और शक्ति (ईश्वर) अभिन्न है, जो सच्चिदानद हैं, वही सच्चिदानन्दमयी हैं। एक सच्चिदानद उपाधिभेदसे विविध रूपवाला होता है, जहाँ कार्य (सृष्टि, स्थिति, प्रलयादि) है वहाँ शक्ति भी है, जल स्थिर होता है तो भी जल है और उसमें तरगें उठें तो भी जल है, ब्रह्म और ईश्वरका भी ऐसा ही संबंध है।

चित्सन्निधौ प्रवृत्ताया प्रकृतेर्हि नियामकम्।
ईश्वर ब्रुवते योगा स जीवेभ्य पर श्रुत: ॥
(पंचदशी, चित्रदीप १०२)

योगाचार्योंके मतानुसार —चैतन्यकी सन्निधिमें चेतनकी तरह प्रवृत्त हो रही प्रकृतिका नियामक ईश्वर है। वह सब जीवोंसे श्रेष्ठ है। उसको प्रधानपति, क्षेत्रपति, और गुणेश्वर इत्यादि शब्दों द्वारा भी सम्बोधन किया जाता है। बृहदारण्यक श्रुतिमें उसका ही अन्तर्यामी रूपसे वर्णन किया है। भगवान पतञ्जलि योगशास्त्रमें ईश्वरके स्वरूपका निर्देश करते हुए कहते है :—

क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्ट. पुरुषविशेष ईश्वर. ॥

अविद्या क्लेश, धर्माधर्म कर्म, उसका फल और तदनुरूप वासना. इन सबसे जो अस्पृष्ट रहता है वह पुरुष विशेष ईश्वर है, जिसमें सब प्रकारके ऐश्वर्य पराकाष्ठाको पहुँचे हुए होते हैं, और जिसके समान दूसरा कोई नहीं वह ईश्वर है, वही पुरुष विशेष है।

तत्र निरतिशयं सर्वज्ञबीजम् ॥

उसमे सर्वज्ञत्व बीज सबसे अधिक प्रमाणमें वर्तमान है। महर्षि पराशर भगवानके स्वरूपका वर्णन करते हुए उनके छ ऐश्वर्य नीचे दिये अनुसार गिनाते हैं :—

ज्ञानशक्तिबलैश्वर्यवीर्यतेजांस्यशेषतः ।
भगवच्छब्दवाच्यानि विनाहेयैर्गुणादिभिः ॥

ज्ञान, शक्ति, बल, ऐश्वर्य, वीर्य और तेज जिसमें परिपूर्ण रूपसे है, और जिसमें किसी प्रकारका हेय—त्याग करने योग्य गुण नहीं है, वह ईश्वर है।

ईश्वर असंग, आनन्द, और चेतन स्वरूप है, फिर भी उसमें नियन्तृत्व शक्ति है। यदि इस बातको अंगीकार न करें तो बंध, मोक्ष आदि सब प्रकारकी व्यवस्थाकी गड़बड़ हो जाय।

भयादस्याग्निस्तपति भयात्तपति सूर्यः ।
भयादिन्द्रश्च वायुश्च मृत्युर्धावति पंचमः ॥
(कठोपनिषद्)

"उसके भयसे अग्नि, सूर्य, इन्द्र, वायु और मृत्यु आदि देव अपना अपना काम यथानियम करते हैं। इस श्रुति द्वारा भी ईश्वरका नियन्तृत्व प्रतिपादित होता है।

एको हि रुद्रो न द्वितीयाय तस्थुर्य इमाँल्लोकानीशत ईशनीभिः ।
प्रत्यङ् जनास्तिष्ठति संचुकोचान्तकाले संसृज्यविश्वाभुवनानि गोपाः ॥
(श्वेताश्वतर)

"एक ही ईश्वर है, उससे भिन्न दूसरेके लिए प्रमाण और युक्तियां स्थित नहीं हैं। जो ईश्वर इन लोकोंको अपनी नियामक शक्तियोंसे नियममें रखता है, तथा जो सबके अन्दर स्थित है, जो प्रलयकालमें संहार करता है और सर्गकालमें सारे भुवनोंको रचकर स्थिति कालमें पालन करता है।"

सर्वतः पाणिपादं तत्सर्वतोऽक्षिशिरोमुखम् ।
सर्वतः श्रुतिमल्लोके सर्वमावृत्य तिष्ठति ॥
सर्वेन्द्रियगुणाभासं सर्वेन्द्रिय विवर्जितम् ।
सर्वस्य प्रभुमीशानं सर्वस्य शरणं बृहत् ॥ (श्वेताश्वतर)

"वह सब ओर हाथों तथा पैरोंवाला, सब ओर नेत्रों, मस्तकों, तथा मुखोंवाला, और सब ओर श्रोत्रवाला है, वह सबको ढके रहता है। वह सर्व इन्द्रियोंवाला अर्थात् इन्द्रिय धर्मोंवाला प्रतीत होता है, फिर भी सर्व इन्द्रियोंसे तथा गुणोंसे रहित है, वह सर्व जगत्का स्वामी, नियता, सबकी परमगति तथा सबका कारण है।"

मायां तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं तु महेश्वरम्।
तस्यावयवभूतैस्तु व्याप्तं सर्वमिदं जगत्॥
(श्वेताश्वतर)

"प्रकृतिको माया समझकर और ईश्वरको मायाविशिष्ट पुरुषकी तरह जानना चाहिए, उसके अवयवमेंसे संभूत ये सब वस्तुए उसके द्वारा व्याप्त हैं।"

उक्त माया तीन प्रकारसे वर्णन की जाती है। ज्ञान दृष्टिसे तुच्छ, तर्कदृष्टिसे अनिर्वचनीय और लोकदृष्टिसे वास्तविक। ऐसी मायासे विशिष्ट पुरुषको ही सर्वज्ञ, सर्वेश्वर आदि शब्दों द्वारा पहचाना जाता है, और उसको ही वेदमें ईश्वर कहा है। वही सब वस्तुओंके अदर स्थित होकर सबको चलाता है, इसीसे शास्त्रमें उसको अतर्यामी कहा है। भगवान श्रीकृष्ण गीतामें इस विषयको नीचे दिए श्लोकसे स्पष्ट करते हैं :—

ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति।
भ्रामयन्सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया॥

"हे अर्जुन! ईश्वर सदा सर्वभूतोंके हृदय प्रदेशमें रहकर सबको अपनी योगमायाके यन्त्रपर बैठाकर पुतलेकी तरह चलाते हैं।" इसलिए—

तमेव शरणं गच्छ सर्वभावेन भारत।
तत्प्रसादात्परां शान्तिं स्थानं प्राप्स्यसि शाश्वतम्॥

"उस परमात्माके ही शरणमें सब भावोंसे जा, उसकी कृपासे ही तू परम शान्तिको तथा शाश्वत धामको प्राप्त होगा।"

—०—

८. प्रतीक तथा प्रतिमाकी उपासना

प्रतीक अर्थात् वह वस्तु जो थोड़ी बहुत भी ब्रह्मके बदलेमें उपासना करने योग्य है। श्रीरामानुजाचार्य कहते हैं कि :—"जो ब्रह्म नहीं है ऐसी वस्तुमें ब्रह्मबुद्धि करके ब्रह्मका अनुसंधान करनेका नाम ही प्रतीक उपासना है। (अब्रह्मणि ब्रह्मदृष्ट्याऽनुसंधानम्) श्रीशंकराचार्य कहते हैं, कि मनकी ब्रह्मरूपसे उपासना करनी, सो उपासना आध्यात्मिक है और आकाश ब्रह्म आधिदैविक है। मन आध्यात्मिक प्रतीक है और आकाश बाह्य प्रतीक है। इन दोनोंकी ब्रह्मके बदलेमें उपासना करनेकी विधि है। प्रतीक शब्दका अर्थ 'तरफ जाना' होता है, इसी प्रकार प्रतीक उपासना यानी ब्रह्मके बदलेमें ऐसी किसी वस्तुकी उपासना जो एकांशमें अथवा अनेकांशमें ब्रह्म स्वरूपसे बहुत कुछ मिलती हो, किन्तु तो पूर्ण ब्रह्मरूप नहीं हो। (आकाशादिमें ये लक्षण देखनेमें आते हैं, इससे श्रुतिमें प्रतीक रूपसे उसकी उपासना करनेका विधान है।) पुराणों और तन्त्रादिमें भी भिन्न-भिन्न प्रतीकोंकी उपासना-विधि दी हुई है। पितरों तथा देवोंकी उपासना भी प्रतीक उपासना ही है ऐसा कह सकते हैं। पर इतना समझना चाहिए, कि केवल ईश्वरकी उपासनाको ही भक्ति नामसे संबोधन कर सकते हैं; देवों तथा पितरोंकी अथवा दूसरी किसी प्रकारकी उपासनाओंके लिए भक्ति शब्दका उपयोग ठीक नहीं। उपासनाका अधिकतर भाग तो कर्मकांडके अन्दर समाया हुआ है। इन उपासनाओंसे स्वर्गभोगादिक फल तो मिलता है, पर भक्ति या मुक्ति इनसे नहीं मिल सकती। प्रतीकका उपासक बहुतसी दफे प्रतीकको भ्रमवशात् ब्रह्मकी जगह बैठाकर उसकी

"वह सब ओर हाथों तथा पैरोंवाला, सब ओर नेत्रों, मस्तकों, तथा मुखोंवाला, और सब ओर श्रोत्रवाला है, वह सबको ढके रहता है। वह सर्व इन्द्रियोंवाला अर्थात् इन्द्रिय धर्मोंवाला प्रतीत होता है, फिर भी सर्व इन्द्रियोंसे तथा गुणोंसे रहित है, वह सर्व जगत्का स्वामी, नियंता, सबकी परमगति तथा सबका कारण है।"

मायां तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं तु महेश्वरम्।
तस्यावयवभूतैस्तु व्याप्तं सर्वमिदं जगत्॥
(श्वेताश्वतर)

"प्रकृतिको माया समझकर और ईश्वरको मायाविशिष्ट पुरुषकी तरह जानना चाहिए, उसके अवयवमेंसे संभूत ये सब वस्तुए उसके द्वारा व्याप्त हैं।"

उक्त माया तीन प्रकारसे वर्णन की जाती है। ज्ञान दृष्टिसे तुच्छ, तर्कदृष्टिसे अनिर्वचनीय और लोकदृष्टिसे वास्तविक। ऐसी मायासे विशिष्ट पुरुषको ही सर्वज्ञ, सर्वेश्वर आदि शब्दों द्वारा पहचाना जाता है, और उसको ही वेदमें ईश्वर कहा है। वही सब वस्तुओंके अंदर स्थित होकर सबको चलाता है; इसीसे शास्त्रमें उसको अंतर्यामी कहा है। भगवान श्रीकृष्ण गीतामें इस विषयको नीचे दिए श्लोकसे स्पष्ट करते हैं:—

ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति।
भ्रामयन्सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया॥

"हे अर्जुन! ईश्वर सदा सर्वभूतोंके हृदय प्रदेशमें रहकर सबको अपनी योगमायाके यंत्रपर बैठाकर पुतलेकी तरह चलाते हैं।" इसलिए—

तमेव शरणं गच्छ सर्वभावेन भारत।
तत्प्रसादात्परां शान्तिं स्थानं प्राप्स्यसि शाश्वतम्॥

"उस परमात्माके ही शरणमें सब भावोंसे जा, उसकी कृपासे ही तू परम शान्तिको तथा शाश्वत धामको प्राप्त होगा।"

—०—

८. प्रतीक तथा प्रतिमाकी उपासना

प्रतीक अर्थात् वह वस्तु जो थोड़ी बहुत भी ब्रह्मके बदलेमें उपासना करने योग्य है। श्रीरामानुजाचार्य कहते हैं कि :—"जो ब्रह्म नहीं है ऐसी वस्तुमें ब्रह्मबुद्धि करके ब्रह्मका अनुसंधान करनेका नाम ही प्रतीक उपासना है। (अब्रह्मणि ब्रह्मदृष्ट्याऽनुसंधानम्) श्रीशंकराचार्य कहते हैं, कि मनकी ब्रह्मरूपसे उपासना करनी, सो उपासना आध्यात्मिक है और आकाश ब्रह्म आधिदैविक है। मन आध्यात्मिक प्रतीक है और आकाश बाह्य प्रतीक है। इन दोनोंकी ब्रह्मके बदलेमें उपासना करनेकी विधि है। प्रतीक शब्दका अर्थ 'तरफ जाना' होता है, इसी प्रकार प्रतीक उपासना यानी ब्रह्मके बदलेमें ऐसी किसी वस्तुकी उपासना जो एकांशमें अथवा अनेकांशमें ब्रह्म स्वरूपसे बहुत कुछ मिलती हो, किन्तु जो पूर्ण ब्रह्मरूप नहीं हो। (आकाशादिमें ये लक्षण देखनेमें आते हैं, इससे श्रुतिमें प्रतीक रूपसे उसकी उपासना करनेका विधान है।) पुराणों और तंत्रादिमें भी भिन्न-भिन्न प्रतीकोंकी उपासना-विधि दी हुई है। पित्रों तथा देवोंकी उपासना भी प्रतीक उपासना ही है ऐसा कह सकते हैं। पर इतना समझना चाहिए, कि केवल ईश्वरकी उपासनाको ही भक्ति नामसे संबोधन कर सकते हैं; देवों तथा पित्रोंकी अथवा दूसरी किसी प्रकारकी उपासनाओंके लिए भक्ति शब्दका उपयोग ठीक नहीं। उपासनाका अधिकतर भाग तो कर्मकांडके अन्दर समाया हुआ है। इन उपासनाओंसे स्वर्गभोगादिक फल तो मिलता है, पर भक्ति या मुक्ति इनसे नहीं मिल सकती। प्रतीकका उपासक बहुतसी दफे प्रतीकको भ्रमवशात् ब्रह्मकी जगह बैठाकर उसकी

ब्रह्मरूपसे उपासना करता है। ब्रह्म आत्मस्वरूप होनेसे प्रतीकका भी वह आत्मस्वरूपसे विचार करता है। पर ऐसा करनेसे उपासक लक्ष्यभ्रष्ट हो जाता है, क्योंकि कोई भी प्रतीक कभी भी उपासकके आत्मस्वरूप नहीं हो सकता। परन्तु जहाँ केवल ब्रह्म ही उपास्य है और प्रतीक उसका प्रतिनिधि स्वरूप है, अथवा उसका उद्दीपक कारण मात्र है, यानी कि जहाँ प्रतीककी सहायतासे सर्वव्यापी ब्रह्मकी उपासना की जाती है, वहाँ ही ऐसी उपासना फलप्रद होती है। प्रारम्भमें ऐसी उपासना बहुत आवश्यक है। जब किसी देवताको देव मानकर ही उपासना की जाती है, तो उस उपासनाका फल बहुत ही अल्प होता है, क्योंकि वैसी उपासना कर्मकाण्डका एक अंगमात्र है। इस ढंगकी उपासना एक प्रकारकी विद्या-विज्ञान मात्र होनेसे उपासकको उसका ही फल मात्र मिलता है, पर जब किसी देवताकी ब्रह्मदृष्टिसे उपासना की जाती है तो उससे ईश्वर उपासना जैसा फल मिलता है। ऐसा है, जिससे ही श्रुति तथा स्मृति पुराणादिमें देव तथा महापुरुषोंकी ब्रह्मरूपसे उपासना करनेकी विधि देखनेमें आती है। अद्वैतवादी कहते हैं, कि नामरूप निकाल देनेसे सारी वस्तुएं ब्रह्म ही हैं, और विशिष्टाद्वैतवादी कहते हैं, कि प्रभु ही सबके अंतरात्मा स्वरूप हैं। भगवान शंकराचार्य ब्रह्मसूत्रके भाष्यमें लिखते हैं कि —"आदित्यादिकी उपासनाका फल ब्रह्म ही देते हैं, क्योंकि वे सबके अध्यक्ष हैं। जिस प्रकार प्रतिमा आदिमें विष्णु वगैरह देवोंकी दृष्टिका आरोप करना पड़ता है, उसी प्रकार प्रतीकमें भी ब्रह्मदृष्टिका आरोप करना पड़ता है। इससे ऐसी उपासनासे यथार्थतया ब्रह्मकी उपासना ही होती है ऐसा समझना चाहिए।" ❀

❀ परमेश्वरकी सगुण विभूतिकी उपासना वेद-उपनिषदोंमें निर्दिष्ट है। इसमें मानसिक या कोई प्रत्यक्ष रूपको उपासनाका साधन बनाते हैं। इसे प्रतीक कहते हैं। जोकि सत्य है कि—परमेश्वरके सर्वव्यापित्व, नित्यत्व आदिकी धारणामें प्रतीक सदोष है, तो भी असंस्कृत या अल्प संस्कृत बुद्धिविशिष्टके लिए, विशेष मन जब रूप-राज्यमें ही विचरनेमें

प्रतीकके संबंधमें जो कहा है, वह प्रतिमाके संबंधमें भी समझना चाहिए। अर्थात् अगर किसी देवताकी अथवा महापुरुषकी प्रतिमा हो तो

समर्थ हो उसवक्त अध्यात्मदृष्टिमें प्रतीक ही एक साधन है जिसके सहारे मनको परमेश्वरकी ओर गतिमान रखा जा सकता है। भक्ति-शास्त्र इसे सम्पूर्णरूपसे स्वीकार करता है। यह सर्वजनविदित है कि, वेदमें व्यक्त ब्रह्म-प्रतीककी उपासना कहने पर भी—यन्मनसा न मनुते येनाहुर्मनो मतम्। तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते। (केनोपनिषद्) जिसका मन द्वारा मनन नहीं हो सकता, पर जिसके सहारे मन चिंतन करनेमें समर्थ होता है, वही ब्रह्म है ऐसा जान, यह नहीं जिसकी तू उपासना कर रहा है,—यह स्पष्ट निर्देश भी पाया जाता है। इससे यही सार निकलता है कि—प्रतीक या प्रतिमा कुछ परमेश्वर नहीं है, ये तो कहिये मानसिक अवलंबन है। प्रतीक या प्रतिमामें ईश्वरभावना ही तारक बनती है, भावना अनुसार फल स्वयं परमेश्वर ही देते है। ऐसा होनेसे यह जो झगड़ा—'मेरा अच्छा और तेरा बुरा' और सत्यमिथ्या—प्रतीक या प्रतिमाके बारेमें दुनियाभरमें नज़र आता है, सो अज्ञान-प्रसूत और अत्यन्त गर्हित हैं, इसमें क्या सन्देह। अपने इष्टकी मूर्त्तिमें श्रद्धा रखनी चाहिये, यह तो अच्छी बात है, पर औरोंकी इष्ट-मूर्त्तियोंपर दुर्भाव बताना या तो उसके बारेमें निन्दासूचक उद्गार निकालना केवल अशोभनीय नहीं बल्कि अनिष्टकारी भी है। एक सर्वव्यापी सर्वेश्वर सच्चिदानन्द ब्रह्म सब मूर्त्तिमें वर्तमान हैं अगर यह बोध आ जाय तो अपने-अपने इष्टमें भक्तिकी कमी होगी। ऐसा माननेवाला नितान्त अज्ञ है या तो मतलबी है समझना चाहिये। कोई भी भ्रान्त धारणा यथार्थ आत्मोत्कर्ष या परम सत्य उपलब्धि करनेमें कभी भी मददरूप नहीं हो सकती। अतः अज्ञ बालकवत् अपने-अपने मान्यरूप—प्रतिमा या प्रतीक लेकरके विवाद करना अनावश्यक व गर्हित है जानकर सो त्याग दें और वासुदेवः सर्वमिति, इस बोधमें दृढ़ रहकर हृदयमें सबके प्रति प्रेम रक्खें। ॐ

केवल उस स्वरूपसे ही उपासना करनेसे भक्ति या मुक्तिका लाभ नहीं होगा, उसकी ईश्वर अथवा ब्रह्मभावसे उपासना करनेसे ही भक्ति मुक्ति दोनोंका लाभ होगा। जगत्‌के मुख्य धर्मोंमें वेदान्त, बौद्धधर्म और ईसाई धर्मोंके किसी किसी सप्रदायोंमें मूर्त्तिपूजाका प्रतिबन्ध नहीं है। ये लोग मूर्त्तिपूजाका अच्छी प्रकारसे उपयोग करते हैं। केवल मुसलमान तथा प्रोटेस्टण्ट धर्मोंमें ही इसकी आवश्यकता स्वीकार नहीं की गई है, पर मुसलमान अपने फकीरों तथा शहीदोंकी कब्रोंका एक तरहसे प्रतिमा रूपसे ही उपयोग किया करते हैं। प्रोटेस्टन्ट लोगोंने धर्मकी बाह्य सहायता उठादी है, इससे वे धीरे धीरे आध्यात्मिक भावोंसे दूर हटते जाते हैं।

प्रकरण चौथा

—०—

१. समाधि

साधारण जनसमाज समाधि अथवा आध्यात्मिक राज्यके अपूर्व दर्शन तथा उपलब्धिके संबंधमें बिल्कुल अज्ञान होता है। वे इस संबंधमें भय तथा विस्मयसे उत्पन्न हुई विचित्र धारणाएँ बाँधते हैं; और इसके विपरीत आधुनिक शिक्षितवर्ग धर्मज्ञान रहित विदेशी शिक्षणके प्रभावसे ऐसा अलौकिक दर्शन होना असंभवित है, अथवा यह सब बिगड़े हुए दिमागके विकार है, ऐसा समझता है। आध्यात्मिक राज्यमें भावसमाधिसे उत्पन्न हुए शारीरिक हेरफेर उनकी दृष्टिमें मूर्च्छा अथवा दूसरे ऐसे ही शारीरिक रोगोंकी तरह प्रतिभात होते हैं। ऐसी गलत धारणाको दूर करनेके लिए यहाँ समाधिके संबंधमें थोड़ी चर्चा करनी उचित समझी है।

साधारण मनुष्य जिन बातोंका अनुभव नहीं कर सकता उनको 'विकार' समझता है; किन्तु, धर्मजगत्‌के सूक्ष्म अनुभव साधारण मनुष्यकी अनुभूतिके विषय कदापि नहीं हो सकते क्योंकि उसके लिए शिक्षा, दीक्षा, और निरंतर अभ्यासादि साधनोंकी आवश्यकता है। ये असाधारण अनुभव साधकोंके मनका मल दूर करके उनको पवित्र बनाते हैं और उनको उच्च कोटिके विविध भावोंसे पूर्ण करके चिरशांतिके अधिकारी बनाते हैं। विकार मानव मात्रको दुर्बल बनाता है, और उनकी बुद्धि, शुद्धि कम करता है, यह हम सब प्रत्यक्ष देखते हैं। धर्म–जगत्‌के अनुभवोंका फल तो इससे बिल्कुल भिन्न ही होता है, इससे उनके कारण भी बिल्कुल भिन्न ही होने चाहिए; इसलिए उनको रोग या मस्तिष्कके विकार नहीं कह सकते।

सब धर्मोंका इतिहास देखनेसे मालूम पड़ेगा, कि सब प्रकारके

आध्यात्मिक अनुभव समाधि द्वारा ही हुए हैं। समाधि भी भिन्न-भिन्न प्रकारकी है। समाधिके भेद अनुसार धार्मिक अनुभूतिमें भी उच्च नीचका भेद देखनेमें आता है। जबतक मानव मनकी सब वृत्तियोंका निरोध होकर निर्विकल्प अवस्थामें पहुँचकर अद्वैतभावमें स्थिति नहीं होती, तबतक आध्यात्मिक जगत्‌की चिरशातिका अधिकारी नहीं होता। परमहंसदेव कहते थे, कि 'अगर पैरमें कॉंटा चुभा हो तो दूसरे कॉंटेकी सहायतासे उस कॉंटेको निकालकर दोनोंको दूर फेंक देना चाहिए।'' भगवानको भूल जानेसे यह जगत्‌रूपी विकार उपस्थित हुआ है। पूर्वोक्त आध्यात्मिक दर्शनादि अनुभवों द्वारा यह विकार दूर हटता है, और मानव धीरे धीरे अद्वैत अनुभूतिके रास्ते पर आगे बढ़ता है। जब वह 'रसो वै स.' इस ऋषिवाक्य की उपलब्धि करता है, तब वह धन्य होता है। यही सनातन प्रणालिका है। धर्म-जगत्‌के सारे मतमतातर, अनुभव, और दर्शनादि मनुष्यको उसी लक्ष्यकी तरफ ले जाते हैं। स्वामी विवेकानन्द कहते थे, कि ये दर्शनादि अनुभव, साधक उस लक्ष्यकी तरफ कितना आगे बढ़ा है उसकी निशानी-रूप हैं। (Milestones on the way to progress.) इसलिए साधकको कभी भी ऐसा नहीं समझना चाहिए कि भाव विशेषकी थोड़ी प्रबलतामें अथवा ध्यानकी मददसे दो-चार देवमूर्त्तियोंके दर्शन होनेमें ही धर्मकी 'इति' हो जाती है। ऐसी धारणामेंसे बहुतसे भ्रमोंका जन्म होता है, साधक अपने लक्ष्यसे भ्रष्ट होकर एकदेशी भावापन्न होता है और परस्पर द्वेष हिंसादि करता है। यह दोष भक्तिपथमें विषम कटकरूप है, और मानवकी हीनबुद्धि ही इसकी उत्पत्तिका मूल है। हीनबुद्धि साधक ऐसा मानता है, कि मुझको हुए दर्शन तथा अनुभवके अनुसार दूसरेको अनुभव न हो तो वह सच्चा धार्मिक नहीं। उसकी दृष्टिमे धर्म और लक्ष्यविहीन अद्‌भुत दर्शन पिपासा—Miracle-mongering ये दोनों एक ही समान दिखाई पड़ते हैं। ऐसी पिपासासे यथार्थ धर्मलाभ नहीं होता, बल्कि इसके कारण तो उलटी निर्बलता आती है। जिससे एकनिष्ठ बुद्धि, और चारित्र्यबल उत्पन्न नहीं होता, जिसकी पवित्र दृढ़ भूमिमें प्रतिष्ठ होकरके

मानव सत्यके खातिर समग्र जगत्‌को तुच्छ गिननेमें समर्थ नहीं होता, जिससे मानव कामवासनाहीन नहीं होता, पर उलटा विषयमें अधिकाधिक फँसता जाता है,—वह सब धर्मराज्यकी हदके बाहर है, यह बिलकुल सत्य समझना चाहिए। अगर दर्शनादि धार्मिक अनुभव, ऊपर बताये हुए फल उत्पन्न न करें और फिर भी ऐसे दर्शनादि होते रहें तो यह निश्चय जानना कि अभीतक धर्मराज्यकी हदमें पाँव भी नहीं रक्खा, और ये सब अनुभव दुर्बल मस्तिष्क-का परिणाम है, तथा उनकी जरा भी कीमत नहीं। ऐसे अनुभव न हों, फिर भी अगर आध्यात्मिक बलमें वृद्धि होती रहे तो ऐसा समझना चाहिए कि सच्चे रास्ते पर है, और थोड़े समयके पश्चात् दर्शनादि लाभ होगा।

एक समय श्रीरामकृष्णका एक शिष्य, दूसरे शिष्योंकी भावसमाधि आदि देखकर मनमें खिन्न होकर उनके पास जाकर कहने लगा, कि "सबको ऐसे उच्चकोटिके दर्शनादि होते हैं और मुझको क्यों नहीं?"

श्रीरामकृष्णने उत्तर दिया, कि "तू तो बुद्धिहीन मालूम होता है। क्या तू ऐसा समझता है कि इसमें सब कुछ आगया? खरे त्याग और सच्चे विश्वासकी कीमत ऐसी दशासे बहुत ज्यादा है। नरेन्द्रकी (स्वामी विवेकानन्दकी) ऐसी अवस्था नहीं होती, पर देख, उसका त्याग, विश्वास, मनोबल और निष्ठा कैसी उच्च प्रकारकी है।"

निर्विकल्प समाधि

मनुष्य जीवनका परम लक्ष्य आत्माका साक्षात्कार है; किन्तु सबकोई आत्माकी उपलब्धि नहीं कर सकते, क्योंकि आत्मा प्रकृति, मन तथा शरीरके साथ जुड़ गया है। अत्यन्त अज्ञानी लोग शरीरको ही आत्मारूप समझते हैं, इनसे जरा ऊँची अवस्थावाले मनुष्य अपने मनको आत्मा मानते हैं। इसीप्रकार मनुष्य प्राण, बुद्धि वगैरह सूक्ष्मतर विषयोंको एकके-बाद-एक आत्मा समझता जाता है, और अन्तमें उसको सच्चे तत्त्वकी समझ पड़ती है।

प्रश्न :—आत्मा इन सब उपाधियोंके साथ बन्ध जाता है इसका कारण क्या है?

उत्तरः—चित्तमें नाना प्रकारकी भावतरंगे उपस्थित होकर आत्माको आवृत्त करती हैं। हम सब इन तरगोंके होनेसे कारण आत्माका थोड़ा प्रतिबिम्ब ही देख सकते हैं। चित्त सरोवरमें जबतक एक भी (क्रोधादि) तरंग रहेगी, तबतक आत्माका प्रकृत स्वरूप प्रकाशित नहीं होगा। इसीलिए भगवान पतंजलिने इन प्रवाहस्वरूप वृत्तियोंके दमन करनेको उपाय बताया है। देखो (योगश्चित्तवृत्ति निरोधः इत्यादि—पातजल योगसूत्र)।

फिर वे कहते हैं कि—जिसप्रकार अग्निकी मोटी लपट छोटी-छोटी ज्वालाओंको अपने अन्दर मिला लेती है, उसी प्रकार एक भाव—प्रवाहको इतना प्रबल करना पड़ेगा, कि जिससे उसमें दूसरे सब प्रवाह लुप्त हो जायँ। जब एक ही प्रवाह रह जायगा, तब उसका निवारण करना बहुत सहल हो जायगा, और जब उसका भी निरोध हो जायगा तब निर्बीज (निर्विकल्प) समाधिका लाभ होगा, फिर दूसरा कुछ नहीं रहेगा। केवल आत्मा अपने महिमान्वित स्वरूपमें अवस्थित रहेगा, और तब ही समझमें आयगा, कि आत्मा मिश्र पदार्थ नहीं है, पर एक नित्य, अमिश्र पदार्थ है, जिससे उसका जन्म भी नहीं है और मृत्यु भी नहीं, वह अमर, अविनश्वर, नित्य चैतन्यघन सत्ता स्वरूप है।

प्रश्न —तो निर्विकल्प समाधिका क्या मतलब है?

उत्तर —मनको सपूर्ण संकल्प-विकल्पसे रहित अवस्थामें ले जाना।

प्रश्न .—सकल्प-विकल्पका क्या अर्थ है?

उत्तर —बाह्य जगत्के रूपरसादि विषयोंका ज्ञान अथवा उनका अनुभव, सुख दु खादि भाव, कल्पना, विचार, अनुमान इत्यादि मानसिक चेष्टाएँ और इच्छा—यानी कि ऐसा करूँ, ऐसा समझूँ, यह भोगूँ, यह त्यागूँ मनकी ऐसी वृत्तियोंको सकल्प-विकल्प कहते हैं।

प्रश्न —वृत्तिका उदय किसमेंसे होता है?

उत्तर :—'मैं' 'मैं' पनेके ज्ञानमेंसे, क्योंकि जब यह 'मैं—पने' का ज्ञान नष्ट होता है तब ये वृत्तियाँ भी शात हो जाती हैं।

प्रश्न :—मूर्च्छा अथवा सुषुप्तिमें भी 'मैं-पने' का बोध नहीं रहता, तो निर्विकल्प समाधि भी क्या उसी तरह है ?

उत्तर :—नहीं, मूर्च्छा और सुषुप्तिमें 'मैं पने' का बोध अभ्यंतरमें रहता है। उस वक्त मस्तकरूपी यन्त्रकी सहायतासे मन 'मैं' 'मैं' करता है, सिर्फ थोड़े समयके लिए वह यन्त्र काम नहीं करता, जिससे 'मैं-पने' का अनुभव नहीं होता, किन्तु भदर तो वृत्तिसमूह भरा हुआ ही होता है; जिसप्रकार कबूतर दाने खाकर गलेमें भरकर रखता है, और गलेमेंसे आवाज भी निकालता है, फिर भी वहाँ दाने तो भरे हुए ही होते हैं, और गलेपर हाथ रखनेसे वे मालूम पड़ते हैं।

प्रश्न :—मूर्च्छा और सुषुप्तिमें 'मैं पने' का बोध रहता है, यह कैसे समझें ?

उत्तर :—उसका फल देखकर; जैसे उस समय भी हृदयका स्पन्दन, नाड़ियोंकी गति और रक्तका सञ्चालन आदि बंद नहीं होता। ये शारीरिक क्रियाएं 'मैं पने' के बोधके आश्रयको लेकर ही होती हैं। मूर्च्छा और सुषुप्तिके बाह्य लक्षण अनेकांशमें समाधिसे मिलते हुए होते हैं, यह ठीक है, पर मनुष्य उस अवस्थामेंसे जब जाग्रत अवस्थामें आता है, तब उसके मनमें ज्ञान और आनन्दकी मात्रा पूर्ववत् होती है, वह चढ़ती या घटती नहीं। कामी मनुष्यकी कामवृत्ति, क्रोधीका क्रोध, लोभीका लोभ,—ये सब पहले जैसे ही होते हैं। किन्तु निर्विकल्प समाधिका लाभ होनेके बाद ये वृत्तियाँ उस रूपमें नहीं रहतीं ; अपूर्व ज्ञान और असीम आनन्दका लाभ होता है, और जगत्-कारण परमात्माका साक्षात् दर्शन होनेसे मनमें 'परकाल है या नहीं ?' 'भगवान है या नहीं ?'—ऐसे संशय उत्पन्न नहीं होते।

वेदान्त मतानुसार निर्विकल्प समाधि

ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय इत्यादि विकल्पोंका संपूर्ण लय होनेके बाद,

उत्तरः—चित्तमें नाना प्रकारकी भावतरंगे उपस्थित होकर आत्माको आवृत्त करती हैं। हम सब इन तरगोंके होनेके कारण आत्माका थोड़ा प्रतिबिम्ब ही देख सकते हैं। चित्त सरोवरमें जबतक एक भी (क्रोधादि) तरग रहेगी, तबतक आत्माका प्रकृत स्वरूप प्रकाशित नहीं होगा। इसीलिए भगवान पतंजलिने इन प्रवाहस्वरूप वृत्तियोंके दमन करनेको उपाय बताया है। देखो (योगश्चित्तवृत्ति निरोधः इत्यादि — पातजल योगसूत्र)।

फिर वे कहते हैं कि—जिसप्रकार अग्निकी मोटी लपट छोटी-छोटी ज्वालाओंको अपने अन्दर मिला लेती है, उसी प्रकार एक भाव-प्रवाहको इतना प्रबल करना पड़ेगा, कि जिससे उसमें दूसरे सब प्रवाह लुप्त हो जायँ। जब एक ही प्रवाह रह जायगा, तब उसका निवारण करना बहुत सहल हो जायगा, और जब उसका भी निरोध हो जायगा तब निर्बीज (निर्विकल्प) समाधिका लाभ होगा, फिर दूसरा कुछ नहीं रहेगा। केवल आत्मा अपने महिमान्वित स्वरूपमें अवस्थित रहेगा, और तब ही समझमें आयगा, कि आत्मा मिश्र पदार्थ नहीं है, पर एक नित्य, अमिश्र पदार्थ है, जिससे उसका जन्म भी नहीं है और मृत्यु भी नहीं, वह अमर, अविनश्वर, नित्य चैतन्यघन सत्ता स्वरूप है।

प्रश्न —तो निर्विकल्प समाधिका क्या मतलब है ?

उत्तर —मनको सपूर्ण सकल्प-विकल्पसे रहित अवस्थामें ले जाना।

प्रश्न .—संकल्प-विकल्पका क्या अर्थ है ?

उत्तर :—बाह्य जगत्के रूपरसादि विषयोंका ज्ञान अथवा उनका अनुभव, सुख दु खादि भाव, कल्पना, विचार, अनुमान इत्यादि मानसिक चेष्टाएँ और इच्छा—यानी कि ऐसा करूँ, ऐसा समझूँ, यह भोगूँ, यह त्यागूँ. मनकी ऐसी वृत्तियोंको सकल्प-विकल्प कहते हैं।

प्रश्न —वृत्तिका उदय किसमेंसे होता है ?

उत्तर '—'मैं' 'मैं' पनेके ज्ञानमेंसे, क्योंकि जब यह 'मैं-पने' का ज्ञान नष्ट होता है तब ये वृत्तियाँ भी शांत हो जाती हैं।

प्रश्न :—मूर्च्छा अथवा सुषुप्तिमें भी 'मैं-पने' का बोध नहीं रहता, तो निर्विकल्प समाधि भी क्या उसी तरह है ?

उत्तर :—नहीं, मूर्च्छा और सुषुप्तिमें 'मैं पने' का बोध अभ्यंतरमें रहता है। उस वक्त मस्तकरूपी यंत्रकी सहायतासे मन 'मैं' 'मैं' करता है, सिर्फ थोडे समयके लिए वह यंत्र काम नहीं करता, जिससे 'मैं-पने' का अनुभव नहीं होता, किन्तु अंदर तो वृत्तिसमूह भरा हुआ ही होता है, जिसप्रकार कबूतर दाने खाकर गलेमें भरकर रखता है, और गलेमेंसे आवाज भी निकालता है, फिर भी वहाँ दाने तो भरे हुए ही होते हैं, और गलेपर हाथ रखनेसे वे मालूम पडते हैं।

प्रश्न :—मूर्च्छा और सुषुप्तिमें 'मैं पने' का बोध रहता है, यह कैसे समझें ?

उत्तर :—उसका फल देखकर; जैसे उस समय भी हृदयका स्पन्दन, नाडियोंकी गति और रक्तका संचालन आदि बंद नहीं होता। ये शारीरिक क्रियाएं 'मैं पने' के बोधके आश्रयको लेकर ही होती हैं। मूर्च्छा और सुषुप्तिके बाह्य लक्षण अनेकांशमें समाधिसे मिलते हुए होते है, यह ठीक है, पर मनुष्य उस अवस्थामेंसे जब जाग्रत अवस्थामें आता है, तब उसके मनमें ज्ञान और आनन्दकी मात्रा पूर्ववत् होती है, वह बढ़ती या घटती नहीं। कामी मनुष्यकी कामवृत्ति, क्रोधीका क्रोध, लोभीका लोभ,—ये सब पहले जैसे ही होते हैं। किन्तु निर्विकल्प समाधिका लाभ होनेके बाद ये वृत्तियाँ उस रूपमें नहीं रहतीं; अपूर्व ज्ञान और असीम आनन्दका लाभ होता है, और जगत्-कारण परमात्माका साक्षात् दर्शन होनेसे मनमें 'परकाल है या नहीं ?' 'भगवान है या नहीं ?'—ऐसे संशय उत्पन्न नहीं होते।

वेदान्त मतानुसार निर्विकल्प समाधि

ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय इत्यादि विकल्पोंका संपूर्ण लय होनेके बाद,

चित्तकी अद्वैत ब्रह्ममें तदाकारकारित वृत्तिको निर्विकल्प समाधि कहते हैं। तब जलके अंदर नमककी तरह चित्त एक अद्वितीय वस्तुमें विलीन हो जाता है, और केवल ब्रह्म ही प्रकाशित रहता है, उस अवस्थामें, "एक दूसरेको देखता नहीं, एक दूसरेको सुनता नहीं, एकमात्र सच्चिदानंदघन परमात्मा स्वानन्दमें विराजते हैं।" तब पुरुषका शुद्ध चित्त निर्वात् दीपकी तरह अचल होकर अवस्थान करता है और पुरुष स्वरूपानन्दका आस्वाद लेता है। ※

साधारण मनुष्योंकी धारणा है, कि निर्बीज समाधि लाभ होनेके बाद

※ सविकल्प समाधि द्वारा उत्पन्न हुई प्रज्ञा और उस प्रज्ञा द्वारा उत्पन्न हुए संस्कार, जाग्रतकालीन प्रज्ञासे उत्पन्न हुए संस्कारोंका निरोध करते हैं, अर्थात् इन संस्कारोंके बोधका निरोध होनेसे समाधि होती है। इस समाधिसे एक नई ही प्रज्ञाका जन्म होता है, और यह नई प्रज्ञा नये संस्कारोंकी सृष्टि रचती है। समाधि द्वारा उत्पन्न हुए संस्कार चित्तके शब्दादि विषयोंके भोगके हेतु नहीं होते, पर इसके विपरीत उनमें विघ्न डालते हैं। चित्तमें जबतक विवेक-बुद्धिकी कमी रहती है, तबतक विषयभोगके लिए चेष्टा रहती है, पर समाधिजात प्रज्ञा उत्पन्न होनेके बाद अविद्यादि क्लेशोंकी निवृत्ति हो जाती है, जिससे फिर भोगोंके लिए लालसा नहीं रहती। पूर्व कथित समाधिजात संस्कारोंका भी निरोध होनेसे सर्ववृत्ति-निरोधरूप निर्बीज (निर्विकल्प) समाधि होती है। इस निरोधसे उत्पन्न हुए संस्कार सविकल्प समाधि द्वारा उत्पन्न हुए संस्कारोंको अटकाते हैं। परम वैराग्य द्वारा प्रज्ञाकृत संस्कार-प्रवाह भी निरुद्ध होनेसे चित्तकी संस्कार उत्पन्न करनेकी शक्ति नाश हो जाती है, और इसीसे उसको निर्बीज समाधि कहते हैं। जाग्रत, और निरोधसे उत्पन्न हुए—ऐसे दोनों प्रकारके संस्कारोंको साथ लेकर, चित्तके अपनी प्रकृतिमें विलीन होनेके बाद शुद्ध और मुक्त पुरुष स्वरूपमें प्रतिष्ठित होता है।

(व्यास भाष्य और मिश्रकी टीकाके आधार पर)

योगी फिर जाग्रत अवस्थामें नहीं आता। ऐसा मालूम होता है, कि निर्बीज शब्द ही इस भ्रमका कारण है। निर्बीजका अर्थ दग्ध बीजकी तरह चित्तकी उत्पादिका शक्तिका नाश है। निर्विकल्प समाधि लाभ होनेके बाद भी प्रारब्धका भोग बाकी रहा हुआ होता है, तबतक शरीर टिका रहता है। इस भोगके अंतमें देहका नाश होता है, और फिर पुरुष शुद्ध मुक्त होकर अपने स्वरूपमें प्रतिष्ठित होता है।

सविकल्प समाधि

शांत, दास्य, सख्य, वात्सल्यादि भावसमूह, अथवा जो भाव साधकको अद्वैत अवस्थामें ले जाते हैं, उनकी उपलब्धिमें निम्न और उच्च दो विभाग हैं। कोई इन सब भावोंकी संपूर्ण रूपसे उपलब्धि करनेको समर्थ होते हैं, और कोई तो सिर्फ इनका आभास पाते हैं। निम्न कोटिके भावोंकी संपूर्ण उपलब्धि होनेसे सविकल्प समाधि होती है। शास्त्र ऐसा निर्देश करते हैं कि :—

उच्च कोटिका अद्वैत भाव तथा निम्न कोटिका सविकल्प भाव—इन सब भावोंमें साधकके शरीरमें अपूर्व परिवर्तन होता है, और अद्‌भुत दर्शनादि भी होते हैं। ये दर्शन और शारीरिक हेरफेर भिन्न भिन्न व्यक्तियोंमें भिन्न विकृति रूपमें देखनेमें आते हैं। किसी-किसीको अल्प भाव होनेसे ही शारीरिक हेरफेर दर्शनादि होते हैं, और कितनोंको अति गंभीर भाव होनेपर भी ऐसा कुछ नहीं होता। इस विषयमें श्रीरामकृष्णदेव नीचे लिखा दृष्टांत देते थे :—

"छोटे तालाबमें एक-दो हाथी उतरें तो पानीमें उथल-पुथल होने लगता है, पर बड़े सरोवरमें दस-बीस हाथी उतर तो भी पानी वैसाका वैसा हो रहता है।" शारीरिक विकार और दर्शनादि, भावकी गंभीरताके ध्रुव लक्षण नहीं हैं। भावकी गंभीरता जाननी हो तो पूर्वकथित निष्ठा, त्याग, चरित्र्यबल, विषयकामनाका घटना इत्यादिसे जान सकते हैं। भावसमाधि

सचमुच होती है या नहीं, यह समझनेका दूसरा कोई रास्ता नहीं है। इससे यह सिद्ध होता है, कि जो साधकगण विषय-वासनाहीन होकर शुद्ध, बुद्ध, मुक्तरूप हुए हैं, उनमें ही शांत दास्य, सख्य, वात्सल्य, और मधुर भावोंकी यथायथ सर्वांग संपूर्ण छबि देखनेमें आती है, काम और कांचनसे विजड़ित व्यक्तियोंमें इन भावोंकी संपूर्णता देखनेमें नहीं आती। स्वामी विवेकानन्द कहते थे कि —जिन भावोंका उच्छ्वास मानवजीवनमें कोई स्थायी परिवर्तन उत्पन्न नहीं करता, जिनके प्रभावसे मानव एक क्षणमें ईश्वरलाभके लिए व्याकुल होता है, और दूसरे ही क्षण अपने मनको काम-कांचनके अनुसरणसे रोक नहीं सकता वे भाव गंभीर नहीं हैं यह निश्चित जानना . और इससे उनका मूल्य भी कम है। उन भावोंके प्रभावसे किसी मनुष्यमें शारीरिक विकृति (जैसे आँसू, रोमांच होना, शरीरका काँपना, अथवा थोड़े समयके लिए बाह्य संज्ञाका लोप होना) पैदा हो तो यह स्नायविक दुर्बलताकी निशानी है, मानसिक शक्तिसे उन सब विकृतियोंका दमन करनेका सामर्थ्य न हो तो पुष्टिकारक खुराक तथा डाक्टरकी सहायतासे उस स्थितिको सुधारनेकी कोशिश करनी चाहिए।"

विशेषतया वे कहते थे, कि इस प्रकारके अंगविकार तथा बाह्यसंज्ञाके लोपमें अधिकतर कृत्रिमता होती है। संयमका बाँध जितना ऊँचा तथा मज़बूत होगा, मानसिक भाव भी उतना ही गंभीर और उच्च होता जायगा। ऐसे मनुष्य तो बहुत ही कम होंगे, कि जिनके जीवनमें आध्यात्मिक भावसमूहकी प्रबलता उत्ताल तरंगरूप धारण करके संयमरूपी बाँधको उलाँघकर अंगविकार तथा बाह्यसंज्ञाके लोपरूपमें परिणत होती होगी। निर्बोध मानव यह बात समझता नहीं है, इसीसे उलटा सोच लेता है। वह ऐसा समझता है, कि इस अंग विकृति और संज्ञाके लोपसे भावकी गंभीरता बढ़ती है। ऐसी भ्रांतिमूलक धारणासे साधक इस प्रकारकी विकृति इत्यादि बढ़ानेके लिए इच्छापूर्वक प्रयत्न करता है। ऐसी चेष्टाको बार बार करनेसे इसका अभ्यास पड़ जाता है और उसके स्नायु दिन-प्रतिदिन दुर्बल

होते जाते हैं, तथा थोड़े बहुत भावके उदयने ही उसमें शारीरिक विकृति उपस्थित हो जाती है। इसका परिणाम यह होता है, कि वह मनुष्य हमेशाके लिए रोगी या पागल बन जाता है। धर्मजीवनमें प्रवेश करके ८० प्रतिशत मनुष्य पाखंडी बनते हैं, १५ पागल हो जाते हैं, (अर्थात अपने मनमाने आचरणसे वे विचारहीन धर्मजनूनियों fanatic की तरह बन जाते हैं); बाकीके पांच मनुष्य पूर्ण सत्यका साक्षात्कार करके धन्य होते हैं; इसलिए सावधान रहना चाहिए।

ऐसा भी देखनेमें आता है, कि इन्द्रिय लोलुप व्यक्तियोंके स्नायु दुर्बल होनेसे वे थोड़ी ही उत्तेजनासे उकसा जाते हैं, और आंसू, रोमाञ्च इत्यादि द्वारा वह प्रकट होता है; अत. शारीरिक विकृति उच्च भावका लक्षण नहीं है, यह हमेशा याद रखनेकी आवश्यकता है।

उच्च तथा निम्न भावोंके उदयसे थोड़ा बहुत परिवर्तन ज़रूर होता है, यह सत्य हम सबके अनुभवकी बात है। क्रोध उत्पन्न होता है तब शरीरमें एक प्रकारका फेरफार होता है, प्रेमवृत्ति प्रबल बनती है तब भी शरीरमें परिवर्तन होता है, सत् या असत् किसी भी भावके उदयसे शरीर पर असर ज़रूर होता है, क्योंकि ऐसा प्रकृतिका स्वभाव है। अमुक व्यक्ति क्रोधी है, अथवा कामी है, साधु है या असाधु है, ऐसा जो बोध होता है वह शरीरके ऐसे परिवर्तनोंसे मालूम पड़ता है। दानवतुल्य कठोर स्वभाववाला व्यक्ति भी सद् विचार तथा सत्सगसे बहुत कोमल और सरल स्वभाववाला बन जाता है। ऐसे बहुतसे दृष्टांत संसारमें मिलते हैं। पाश्चात्य तत्त्वविद् कहते हैं, कि मनुष्यके मनमें जैसे भावका उदय होगा, वैसा ही चिन्ह उसके मस्तिष्कमें सदाके लिए अंकित हो जायगा। ऐसे चिन्होंके समूह (Impressions) से चरित्र बनता है, और मनुष्य भला अथवा बुरा बनता है। भारतवर्षके ऋषिमुनि कहते हैं, कि मस्तिष्कपर अंकित हुए ये चिन्ह उत्तम तथा अधम कर्मोंमें मनुष्यकी प्रवृत्ति करानेवाली सूक्ष्म प्रेरणाशक्तिमें परिवर्तित होकर मेरुदण्ड (Spinal chord) के नीचेके

भागमें मूलाधार नामके मेरु चक्रमें नित्य रहते हैं। पूर्वजन्मोंमें संचित प्रेरणाशक्तिका निवास स्थान भी वही है। इस प्रकारकी प्रेरणाशक्तियोंको ही संस्कार कहते हैं, और निर्विकल्प समाधि द्वारा परमात्माका साक्षात्कार होनेके पश्चात् ही इनका संपूर्णतया नाश होता है। जबतक ऐसा साक्षात्कार नहीं होता, तबतक दूसरी देहमें प्रवेश करते समय जीवात्मा इन संस्कारोंको अपने साथ ले जाता है।

अद्वैत ज्ञान नहीं होता तबतक शरीर और मनके बीचमें पूर्व कथित संबंध रहता है, अर्थात् शरीरमें कुछ आघात होता है तो मनको भी वह आघात लगता है, और मनपर आघात होता है तो शरीरपर भी उसका असर होता है। जिस प्रकार एक व्यक्तिके मन और शरीरके बीच ऐसा परस्पर संबंध है, उसी प्रकार समग्र मनुष्य जातिके समष्टि शरीर और मनके बीच भी ऐसा ही संबंध है। एक मनुष्यके मनमें हुआ आघात तथा प्रतिघात दूसरे मनुष्यके मनपर भी असर करता है। ऐसे बाह्य और अंतर, स्थूल और सूक्ष्म जगत्के बीच भी नित्य संबंध है, और एक दूसरे पर निरंतर आघात प्रत्याघात हुआ करता है। शोकातुर वृत्तिके मनुष्यके पास जानेसे शोकका उदय होता है, और भक्तिमान्के पास जानेसे भक्तिका उदय होता है, इसका कारण भी यही है। दूसरे सब भावोंका असर भी इसी प्रकार अन्य व्यक्तियोंपर हुआ करता है।

शारीरिक रोग और स्वास्थ्यकी भाँति मानसिक विकार और भावोंमें भी संक्रामक शक्ति रहती है। ऐसा संक्रमण भी अधिकारी भेदके अनुसार होता है। इसीलिए सत्संगका इतना ज्यादा माहात्म्य शास्त्रोंमें वर्णन किया है, क्योंकि इससे भगवानके प्रति अनुराग उत्पन्न होता है।

साधारण मानसिक भावोंकी तरह भगवानके प्रति एकनिष्ठ तीव्र अनुराग रखनेसे जिन भावोंका मनमें उदय हुआ करता है, उससे भी शरीरमें अपूर्व परिवर्तन होता है। इस प्रकारका अनुराग होनेसे साधकके मनमें रूप-रसादि

विषयोंके प्रति आसक्ति कम हो जाती है, आहार और निद्राकी स्वल्पता होती है, स्त्री-पुत्रादिके प्रतिका मायिक संबध भगवानकी प्राप्तिके मार्गमें बाधा स्वरूप है, ऐसा समझनेसे उन संबधियोंके साथका मायिक संबंध परित्याग करनेकी इच्छा होती है; उसकी धातु वायु-प्रधान होती है इत्यादि।

इससे ऐसा मालूम पड़ता है, कि भगवानके प्रति अनुराग होनेसे जो सब मानसिक परिवर्तन होते हैं। उनमेंसे प्रत्येक परिवर्तनका विशेष रूप होता है। वैष्णव तन्त्रमें उनके शान्त, दास्य, सख्य, वात्सल्य, और मधुर ऐसे पांच विभाग देखनेमें आते हैं, और योगशास्त्र भी उन मानसिक अवस्थाओंकी तरफ लक्ष्य रखकर ही पट्चक्रादि भेद तथा मेरुदंड और मस्तिष्कके अंदर स्थित कुंडलिनी शक्तिका वर्णन करते हैं।

योगी कहते हैं, कि सारे जीवोंमें यह कुंडलिनी शक्ति संपूर्ण सुप्त या अप्रकाशित अवस्थामें रहती है। इसकी सुप्त अवस्थामें जीवमें स्मृति, कल्पना आदिका उदय होता रहता है; यदि किसी प्रकार कुंडलिनी पूर्णतया जाग्रत हो जाय तो जीवको पूर्ण ज्ञानके लाभकी प्रेरणा देकर परमात्माका साक्षात्कार कराती है।

यदि कोई पूछे कि कुंडलिनी शक्तिकी सुप्तावस्थामें किस प्रकारसे स्मृति, कल्पना आदिका उदय होता है? तो इसका उत्तर यह है, कि यह शक्ति सुप्त होनेपर भी बाहरके रूपरसादि पदार्थ पंचेन्द्रियों द्वारा निरंतर मस्तिष्कपर जो आघात करते हैं उससे इसमें क्षणमात्र टिकनेवाली चेतना उत्पन्न होती है; जैसे निद्रित व्यक्तिको मच्छर काटनेपर वह स्वतः हाथ हिलाकर उसको उड़ा देता है उसी प्रकार। योगी कहते हैं, कि मस्तकके बीचोंबीच सहस्रारमें रहे हुए अवकाश (खाली जगह) में अखंड सच्चिदानन्दस्वरूप परमात्माके ज्ञान स्वरूपका अवस्थान होता है। यह स्वरूप हमेशा पूर्वकथित कुंडलिनी शक्तिको अपनी तरफ खींचा करता है, किन्तु कुंडलिनी शक्तिके जाग्रत न होनेसे इस आकर्षणका अनुभव नहीं होता।

इस शक्तिके जाग्रत होनेसे ही आकर्षणका अनुभव होता है, और तब ही उस तरफ जानेके लिए वह अग्रसर होती है। ऊपर पहुँचनेका रास्ता मेरुदण्डके अन्तमें मूलाधार नामक मेरुचक्रसे शुरू होकर मेरुदण्डके बीचमेंसे होकर मस्तकमें जाता है। इसको योगशास्त्रमें सुषुम्णा मार्ग कहते हैं। पाश्चात्य शरीर तत्त्ववेत्ता इसको Canal Centralıs (मध्यपथ) कहते हैं, पर वे इसकी किसी प्रकारकी भी कार्यकारिता नहीं समझते। परमात्मासे वियुक्त होकर कुण्डलिनी इसी मार्गसे आकर मूलाधारमें निद्रित अवस्थामें है, सो इसी रास्तेसे षट्चक्रोंका भेदन करके कुण्डलिनी ऊपर पहुँचती है। जिस समय एक चक्रमेंसे दूसरे चक्रमें पहुँचती है, उस समय साधकको भिन्न-भिन्न प्रकारके अनुभव होते हैं। जब वह मस्तकमें स्थित चक्रमें जाती है, तब साधकको धर्मविज्ञान संबंधी सर्वोत्तम अनुभव होता है, क्योंकि उस समय अद्वैत ज्ञान होकर "कारण कारणानाम्" रूपी परमात्माके साथ साधक तन्मय बन जाता है। सब प्रकारके भावोंका चरम अनुभव उसी समय होता है। उस समय जिस महाभावका अवलम्बन करके दूसरे भाव मानव मनमें सर्वदा उदित होते हैं, उस "भावातीत भावमें" साधक तन्मय बनकर अवस्थान करता है।

कुण्डलिनी शक्ति सुषुम्णा मार्गसे होकर ऊपर उठती है, उस समय जिस प्रकारकी गतिका अनुभव होता है उस संबंधमें परमहंस श्रीरामकृष्णदेव कहा करते थे :—

"जब वह (कुण्डलिनी) मस्तकमें पहुँचती है तब हमेशा एक ही तरहकी उसकी गति नहीं होती। इस गतिके पाँच प्रकार हैं।

१. पिपीलिका गति—जिसप्रकार चींटियाँ खानेका पदार्थ मुँहमें लेकर एकके-पीछे-एक कतार बाँधकर धीरे-धीरे चलती हैं, उसी प्रकार पैरसे शुरू होकर एक तरहकी गति होती है, जो धीरे-धीरे मस्तकमें पहुँचती है, उस समय समाधि होती है।

२. **भेक गति**——मेंढककी तरह दो-तीन छलांगें लगाकर ज़रा रुकती है, और फिर दो तीन छलांगें लगाकर रुकती है, इस तरह पैरसे शुरू होकर कुंडलिनी ऊपर पहुंचती है और समाधि होती है।

३. **सर्प गति**——जिसतरह सर्प लंबा होकर और कितनी बार गुलांचा मारकर पड़ा रहता है, पर सामने कुछ खानेको देखकर अथवा डरसे वह जैसे एकदम भागता है, उसीप्रकार पैरसे कुंडलिनी मस्तककी तरफ दौड़ती है, और समाधि होती है।

४. **पक्षी गति**—जिसप्रकार पक्षी एक जगहसे दूसरी जगह पहुँचनेको ऊँचा नीचा उड़ते-उड़ते लक्ष्यस्थानपर पहुँचता है, और रास्तेमें रुकता नहीं, जहाँ बैठनेका इरादा किया होता है वहीं बैठता है; उसीप्रकार पैरसे शुरू होकर कुंडलिनी मस्तकमें जाती है और समाधिलाभ होता है।

५. **वानर गति**—जिस प्रकार बंदर आवाज़ करके एक पेड़से दूसरे पेड़पर कूदते हैं, और ऐसे कूदते-कूदते जहाँ जाना होता है वहाँ पहुँचते हैं, उसी प्रकार कुंडलिनी दो तीन छलांगें मारकर मस्तकमें पहुँचती है, और समाधिलाभ होता है।"

दूसरे बहुतसे आचार्योंका कहना यह है, कि पैरसे नहीं लेकिन मूलाधार चक्रमेंसे ही कुंडलिनीकी मस्तककी ओर जानेकी गति शुरू होती है।

कुंडलिनी शक्ति सुषुम्णा मार्गसे ऊपर पहुँचती है, उस समय प्रत्येक चक्रके भेदनके समय जिस तरहका अनुभव होता है उस संबंधमें परमहंस श्रीरामकृष्णदेव कहते थे कि :—

"वेदान्तमें सात भूमिकाओंकी बात है। ये सातों मनके रहनेके स्थान हैं। मन जब संसारके विषयोंमें हिला-मिला रहता है, तब वह लिंग, गुह्य और नाभिमें रहता है। मनके उससमय ऊर्ध्व दृष्टि नहीं होती; केवल

काम-कांचनमें ही वह आनन्द पाता है । मनकी चौथी भूमिका हृदय है । तब पहली ही बार चैतन्यलाभ होता है और चारों तरफ ज्योतिका दर्शन होता है। साधक इस ज्योतिको देखकर विस्मित होता है और "यह क्या ?" "यह क्या ?" ऐसा कहता है । इसके पश्चात् मन फिर ससारमें नहीं लिपटाता। मनकी पाँचवीं भूमिका कठ है । मन कठमें जाता है तब अविद्या—अज्ञानका नाश होता है और ईश्वर संबधी बातोंके सिवाय दूसरी बात सुनने अथवा बोलनेकी इच्छा नहीं होती । यदि कोई ईश्वर सबधी बात छोड़कर दूसरी बात करता है, तो साधक वहाँसे उठकर चला जाता है। मनकी छठी भूमिका भ्रू-मध्य है । मन वहाँ पहुँचता है तब अहर्निश ईश्वरके रूपका दर्शन होता है। इससमय भी थोड़ा बहुत 'मैं-पने' का बोध रहता है। साधक ईश्वरके अनुपम रूपका दर्शन करके उन्मत्तके जैसा बन जाता है और इस रूपको स्पर्श तथा आलिंगन करनेकी कोशिश करता है, पर ऐसा कर नहीं सकता। जैसे फानूस (लालटेन) के बीचकी बत्तीको स्पर्श करनेकी इच्छा होनेपर भी नहीं कर सकते,—उसीप्रकार । शिरोदेश सातवीं भूमिका है, वहाँ मन जाता है तब समाधि होती है, और ब्रह्मज्ञानी ब्रह्मका प्रत्यक्ष अनुभव करता है ॐ। जीवकोटिका साधक इस अवस्थामेंसे नीचे नहीं उतर सकता । वहाँ इक्कीस दिनतक निरतर समाधिमें रहनेके बाद काचकी तरहकी आड़ टूट जाती है, और साधक परमात्माके साथ एकदम मिल जाता है। समाधि होनेसे सारे कर्मोंका त्याग हो जाता है। साधककी ऐसी स्थिति होती है कि उसके मुँहमें दूध डालें तो भी बाहर निकल जाता है। पूजा, जप आदि कर्म तथा विषय कर्म सारे छूट जाते हैं। प्रारंभमें ही कर्मको बहुत धूमधाम रहती है, पर जितने प्रमाणमें ईश्वरकी ओर मन आगे बढ़ता है, उतने ही प्रमाणमें कर्मका आडबर कम होता जाता है, यहाँ

ॐ योगवाशिष्ठके मतानुसार सप्तभूमिका :—

१. शुभेच्छा, २. विचारणा, ३. तनुमानसा, ४ सत्त्वापत्ति, ५. असंसक्ति, ६. पदार्थभाविनी, ७. तुरिय ।

तक कि अन्तमें ईश्वरके नामका गुणगान भी बंद हो जाता है। (एक भक्तकी तरफ देखकर) जबतक तुम सभामें नहीं थे, तबतक तुम्हारा नाम लेते थे, और तुम्हारे सबंधमें चर्चा होती थी, पर जब तुम स्वयं आ गये तो सब बंद हो गया, फिर तुम्हारे दर्शनमें ही आनन्द आता है, इसी प्रकार।"

ब्रह्म भोजनके समय भी आरम्भमें खूब कोलाहल होता है। पत्तलें बिछ जाती हैं और सब यथास्थान बैठ जाते हैं तब यह शोर गुल कुछ कम हो जाता है, और फिर पीछे भोजन परोसते समय 'लाडू लावो' 'दाल परोसो' 'शाक परोसो'—ऐसे शब्द होते हैं। इसके बाद जब भोजन शुरू होजाता है, तब सारी आवाज़ें लगभग बद हो जाती हैं, और सिर्फ सबड़का (खानेकी आवाज़) ही सुना जाता है, और अतमें भोजन कर लेनेके बाद फिर निद्रा, उस समय सारे चुपचाप। इसीलिए कहता हूँ कि ईश्वरकी तरफ जितने आगे बढ़ोगे उतने ही प्रमाणमें कर्म कम हो जायँगे और अन्तमें समाधिलाभ होगा।"

समाधिलाभ होनेके बाद साधारणतया शरीर नहीं टिकता, पर लोकशिक्षाके लिए कितने ही शरीर धारण करके रहते हैं, जैसे कि नारद ऋषि तथा चैतन्यादि अवतारी पुरुष। कुआ खोदनेके बाद जैसे कोई कोई मनुष्य कुदालो, फावड़ा, टोकरी वगैरह फेंक देते हैं, अथवा दूसरे किसीको दे देते हैं, तब दूसरे कितने ही उन चीज़ोंको रख देते हैं, इसलिए कि गाँवके दूसरे मनुष्योंके काम आवे। उसी प्रकार महापुरुष जीवोंका दुःख देखकर दुःखित होते हैं, वे स्वार्थपर नहीं होते कि अपनेको ज्ञानलाभ होनेसे ही संतोष मानें। सामान्य सामर्थ्यवाले मनुष्य लोकशिक्षा देते डरते हैं; जैसे छोटी लकड़ी सिर्फ खुद ही नदीमें तैर सकती है, परंतु उसपर एक पक्षी भी बैठे तो वह डूब जाती है, इसके विपरीत नारदादि जैसे बड़े बड़े लट्ठे (लकड़े) स्वयं भी तैरते हैं, और साथ साथ हजारों मनुष्योंको भी उसपार उतारते हैं।"

पीतवस्त्रधारी, नवीन यौवनयुक्त, श्रीवत्सकौस्तुभादि धारण किये हुए, चतुर्हस्त हरि विराजमान हैं।

तदन्तर्वारुण बीज श्वेत मकरवाहनम्।
पाशहस्तं तदंके च हरिं श्याम चतुर्भुजम्॥

इस चक्रकी अधिष्ठात्री देवी 'राकिणी' है।

अत्रैव भाति सतत खलु राकिणी सानीलाम्बुजोदरसहोदरकान्तिशोभा।
नानायुधोद्यतकरैर्लसितागलक्ष्मीर्दिव्याम्बराभरणभूषितमत्तचित्ता॥

३. मणिपुर :—

स्वाधिष्ठान चक्रके ऊपर नाभिके मूलमें जलपूर्ण मेघके रंगयुक्त दशदल पद्म है। इसकी प्रत्येक पांखड़ीपर दूसरे चक्रोंकी तरह बीजमन्त्रके अक्षर हैं। इसके अंदर त्रिकोणमण्डलमें बालसूर्य जैसा वैश्वानर वह्नि (अग्नि) है। इस त्रिकोणके बाहर स्वस्तिकका चिन्ह है, और इसके अंदर वह्निबीज (रं) है। इसका वाहन मेष (मेंढ़ा) है, तथा इसकी गोदमें रुद्र विराजते हैं।

ध्यायेन्मेषाधिरूढ नवपतननिभ वेदबाहूज्ज्वलागम्।
तत्क्रोडे रुद्रमूर्त्तिर्निवसति सतत शुद्धसिन्दूरराग॥
भस्माल्लिप्तागभूषाभरणसितवपुर्वृद्धरूपा त्रिनेत्रो।
लोकानामिष्टदाताऽभयलसितकरः सृष्टिसंहारकारी॥

इस चक्रकी अधिष्ठात्री देवी 'लाकिनी' है। यह श्यामवर्णा, चतुर्हस्ता, पीतवसना, और शुभकरी है।

४. हृदयपद्म या अनाहत चक्र :—

यह चक्र बन्धूक पुष्पके जैसा उज्ज्वल है।

शब्दब्रह्ममयः शब्दोऽनाहतस्तत्र दृश्यते।

इस कारणसे यह अनाहत नामसे भी पहचाना जाता है। इसके बारह

पाँखड़ी हैं, और प्रत्येक पाँखड़ीपर बीजमंत्र है, इसके बीचमें धूम्रवर्ण षट्कोण वायुमंडलमें पवनाक्षर अर्थात् वायुबीज (यं) है। इस वायुबीजका वाहन कृष्णसार मृग है। इसके चार हाथ हैं और इसका वर्ण धूसर है। इसकी गोदमें वराभययुक्त, द्विहस्त, त्रिनेत्र, सूर्यवर्ण, करुणानिधान ईश विराजते हैं।

तन्मध्ये करुणानिधानममलं हंसाभमीशाभिधं ।
पाणिभ्याममभयं वरं च विदधल्लोकत्रयाणामपि ॥

इसकी अधिष्ठात्री देवी 'काकिनी' है। इस देवीका रंग विद्युत्प्रभा जैसा है। इसके तीन नेत्र और चार हाथ हैं, तथा कृष्णवस्त्र पहने हुए हैं।

कृष्णाम्बरपरीधाना नानाभरणभूषिताम् ।
ध्यायेत्शशिमुखीं नित्या काकिनीं मन्त्रसिद्धये ॥

यह शक्ति चक्रके बीचमें, वायुबीजके नीचे, त्रिकोण यंत्रके मध्यमें वर्तमान है; इस त्रिकोणके अंदर शिव बाणलिंग रूपसे विराजते हैं। इसको सूर्यमंडल भी कहते हैं। पूर्वकथित हृदयपद्मके नीचेके भागमें दूसरा एक रक्तवर्ण अष्टदल पद्म है, जिसका उपयोग मानस पूजामें होता है। इसका मुख ऊपरकी तरफ है, दूसरे पद्मोंकी तरह यह अधोमुख नहीं है।

तन्मध्येऽष्टदलं रक्तं तत्र कल्पतरुं तथा
इष्टदेवासनं चारुचन्द्रातपविराजितम् ॥

इस पद्ममें हंसरूपी जीवात्माका निवास है। इसका स्वरूप वायुरहित स्थानमें अवस्थित दीपशिखाकी तरह है।

५. विशुद्ध चक्र :—

इसका स्थान कंठदेशमें है, इसका रंग धुएँके आभास जैसा है। इसके सोलह पाँखड़ी हैं, और प्रत्येक पाँखड़ीपर बीजमन्त्र है। इसके अंदर वर्तुलाकार नभोमंडल है, जहाँ आकाश या व्योमबीज (हं) श्वेत हस्तीपर विराजते हैं। इनकी गोदमें पंचवदन, त्रिनयन, दशभुजाधारी, व्याघ्रचर्म

परिहित, सदाशिव, गिरिजा सहित (अर्धनारीश्वर) विराजते हैं। इनका वामअग सुवर्ण वर्ण और दक्षिणांग शुक्लवर्ण है।

शुक्लाम्बरेण सवीत तत्र देवं सदाशिवम्।
गिरिजाभिन्नदेहार्धं रौप्यहैमशरीरकम् ॥

इस पद्मकी अधिष्ठात्री देवी 'शाकिनी' है। यह पीतवस्त्रा, चतुर्हस्ता, नानाविध शस्त्रास्त्रधारिणी शुभकरी है। यही चक्र जितेन्द्रिय पुरुषके लिए महामोक्ष अर्थात् निर्वाण मुक्तिका द्वार स्वरूप है।

कर्णिकाया त्रिकोणस्थ पूर्णचन्द्रन्तु चिन्तयेत्।
हैमाभ गजमारूढमाकाश तत्र चिन्तयेत् ॥
शुक्लाम्बरेण तत्र संवीतं देव सदाशिव. ॥

६. आज्ञाचक्र :—

इसका स्थान भ्रू के मध्यमें है, और इसके दो ही पाखड़ी हैं।

तालुकंठं प्रविश्योर्ध्वं भ्रूयुगान्ते सितं शुभम्।
द्विदलं हक्षवर्णाभ्या मनाऽधिष्ठितमम्बुजम् ॥

इसकी अधिष्ठात्री देवी 'हाकिनी' है, यह चन्द्रवर्णा है, इसके छः मुँह और छः भुजा है। यह चक्र मनका निवासस्थान है। इसके अन्दर योनि मुद्रामें लिंगरूपी शिव विराजते हैं। जिनकी शोभा विद्युत्माला जैसी है, तथा इसके बीचमें वेदोंके आदिबीज ॐकार तथा परमशक्तिका वास है। इसके तेजसे ब्रह्मसूत्र (चित्रिणी नाड़ी) देखनेमें आती है। यहाँ अग्निकण जैसी उज्ज्वल, प्रणव सहित त्रिकोणमें दीपाकार ज्योति बालसूर्यकी तरह प्रकाशती है। यहीं षड़ैश्वर्यशाली भगवानका दर्शन होता है। यहीं विष्णुका वास है और मृत्युकालके समय कुंभक द्वारा वायुका संरोध करके, योगीजन यहाँपर ही यथाविधि प्राणको स्थापन करते हैं, तथा मृत्युके पश्चात् परम, नित्य, अज, आद्य परमपुरुषके साथ एकरूप हो जाते हैं। (गीताके आठवें अध्यायके ९, १० श्लोक देखो।)

आज्ञाचक्र तथा सहस्रारके बीचमें महानादका स्थान है। योगीजन समाधिमार्गसे इसका अनुभव करते हैं।

७. सहस्रार :—

महानादके ऊपर सहस्रदल कमल है इसका रंग पूर्णचन्द्रसे भी उज्ज्वल है, यह अधोमुख है और अकारादि ५० अक्षरोंसे सुशोभित है। इसके बीचमें चन्द्रमंडलसे विद्युत्प्रभावाली त्रिकोण शक्तिके मध्यमें 'महाशून्य' विराजते हैं। योगी बहुत मुश्किलसे यहाँ पहुँच सकते हैं। यहाँ (ख-रूपी) परमशिव विराजते हैं। ये ही ब्रह्म है ये ही सबके आत्मा हैं, ये ही अज्ञान मोहान्धकारका नाश करनेवाले परम सूर्य हैं। शैव-मार्गी शिवका, वैष्णव परमपुरुषका शाक्त देवीका, मुनि प्रकृति-पुरुषका—इस चक्रको स्थान रूपसे निर्देश करते हैं। कोई कोई तो कहते हैं कि हरिहरके रहनेका यह मुख्य स्थान है, और कोई कोई वेदान्तवादियोंके मतानुसार साधक इस स्थानमें पहुँचकर निर्विकल्प समाधिके योगसे निराकार, निरंजन परमात्माको स्वात्माकी तरह अनुभव करता है।

कुंडलिनीको जाग्रत करनेके लिए गुरुके उपदेशानुसार साधकको यमनियमादिका पालन करना पड़ता है। जब वह ब्रह्मभावमें तन्मय होकर हुंकार शब्द द्वारा कुंडलिनीके ऊपर आघात करता है, तब देवी जाग्रत होकर लिंगको भेदकर ब्रह्मद्वारमें पहुँचती है। इसके बाद विभिन्न पद्मोंमें स्थित त्रय लिंगोंको भेदकर, शुद्धसत्वरूपिणी देवी परम रसस्वरूप सदाशिवमें मिल जाती है, और साधकको एकदम मोक्षानन्द प्रदान करती है। यह कुंडलिनी देवी चौबीस तत्व समन्विता है। जब यह एक चक्रमेंसे दूसरे चक्रमें गमन करती है, तब उन चक्रोंके सारे तत्वों तथा देवदेवी और वर्णोंको अपने अंगमें धारण करके ऊर्ध्व गमन करती है और अंतमें सर्वतत्त्वमयी, सर्वदेवमयी, तथा सर्ववर्णमयी होकर सहस्रारमें परमशिवसे मिलती है।

नीत्वा ता कुलकु डली लयवशात् जीवेन सार्धे सुधी।
मोक्षेधामनि शुद्धपद्मसदने शैवे परे स्वामिनी ॥

ध्याये दिष्टफलप्रदां भगवती चैतन्यरूपा परा।
योगीन्द्रो गुरुपादपद्मयुगलालम्बी समाधौ यत ॥

इस प्रकार साधक कुलकु डलिनीको शुद्धा, चैतन्यरूपा समझकर उसका ध्यान धरता है, और उसकी कृपासे चित्त निरोध द्वारा जीव और आत्माका एकत्व (सोऽहम्) अनुभव करता है। उस समय साधक 'मैं शुद्ध हूँ, मुक्त हूँ, एक अद्वय वस्तु हूँ, नित्य आनन्दस्वरूप हूँ—ॐ,' इत्यादिका अनुभवकरके चिरशान्तिका अधिकारी होता है।

परमशिवके साथ एक दफे मिलनेके बाद कुंडलिनी फिर यथाक्रमसे मूलाधारमें उतर आती है। जिन योगियोंने यह अवस्था प्राप्त की है वे आत्माराम होकर, सर्व तत्त्ववेत्ता तथा भयशून्य बनकर पृथ्वीपर विचरण करते हैं।

परात्मन' पृथिव्यादि तद्वत्तत्त्वानि च क्रमात्।
जीव कु डलिनी चापि स्वस्थानं प्रापयेत्क्रमात् ॥

—०—

३. साधकके आध्यात्मिक जीवनमें द्वैत, विशिष्टाद्वैत और अद्वैतभावका अनुक्रमसे प्रकाश

द्वैत, विशिष्टाद्वैत, अद्वैत ऐसे तीन प्रकारके मत हैं। ये तीनों मत मानव मनकी आध्यात्मिक उन्नतिके क्रममें एकके बाद एक प्रकाशित होते हैं। जब द्वैतभाव उत्पन्न होता है, तब दूसरे दोनों भाव मिथ्या हैं ऐसा साधकको बोध होता है। इससे आगे बढ़नेपर जब विशिष्टाद्वैतका भाव आता है, तब नित्य, निर्गुण वस्तु लीलामें सर्वदा सगुण रूपसे वर्तमान है, ऐसा बोध होता है, उस समय द्वैतवाद तो मिथ्या लगता ही है, किन्तु

अद्वैतवादमें भी कुछ सत्य है, ऐसा नहीं लगता। इसी प्रकार साधक जब साधनकी सहायतासे धर्मोन्नतिकी अन्तिम सीमामें पहुँचता है, तब निर्गुण रूपसे परब्रह्मकी उपलब्धि करके अद्वैतभावमें अवस्थान करता है। उस समय में, तू, जीव, जगत्, भक्ति, मुक्ति, पाप पुण्य, धर्म,—सब एकाकार होजाते हैं। इस विषयमें महावीर हनुमानके जीवनमेंसे एक उज्ज्वल दृष्टांत मिलता है। उस सबधमें श्रीरामकृष्ण परमहंस कहते थे कि :—

"श्रीरामचन्द्रने एक समय हनुमानजीसे पूछा, कि तुम मुझे किस भावसे देखते हो, अथवा किस भावसे मेरे सबधमें विचार तथा पूजा करते हो? हनुमानने जवाबमें कहा, 'हे राम! जिस समय मैं देहबुद्धिमें रहता हूँ, यानी कि जिस समय मुझे ऐसा ख्याल रहता है, कि मेरे यह शरीर है उस समय मैं ऐसा देखता हूँ, कि आप प्रभु हो और मैं दास हूँ; आप सेव्य हो और मैं सेवक हूँ; आप पूज्य हो और मैं पूजक हूँ। जिस समय मैं अपनेको मन, बुद्धि और आत्मा विशिष्ट जीवात्माकी तरह समझता हूँ, उस समय मुझे बोध होता है कि आप पूर्ण हो और मै उसका अश हूँ; और जिस समय मैं उपाधि मात्रसे रहित शुद्ध आत्मा हूँ, ऐसे भावसे समाधिमे स्थित होता हूँ, तब मुझे ऐसा मालूम होता है, कि जो आप हो वही मैं हूँ। आप और मैं एकही रूपके हैं, किसी प्रकारका भेद नहीं है।"

देहबुद्धया दासोऽस्मि ते, जीवबुद्धया त्वदंशकः।
आत्मबुद्धया त्वदेवाहम् इति मे निश्चिता मतिः॥

श्रीरामकृष्ण ऐसे भी कहते थे कि, "जो पूर्णतया अद्वैतवादी है वह बिल्कुल चुप हो जाता है, क्योंकि अद्वैतवाद शब्दका विषय नहीं है। यदि बोले तो 'दो' का भाव आ जाता है। भावकल्पना जबतक होती है, तबतक भी 'द्वैत-पना' रहता है, और तबतक पूर्णतया अद्वैतज्ञान नहीं हुआ है, ऐसा जानना चाहिए। जगत्में एकमात्र ब्रह्मवस्तु यानी परमात्माका निर्गुणभाव ही उच्छिष्ट नहीं हुआ है,"—अर्थात् मानवमुँहसे यह भाव कभी उच्चारित हो नहीं सका, क्योंकि यह मन-बुद्धिसे परे है। मुँहसे

अद्वैतवादकी चर्चा करते हुए भी व्यवहारमें तो विशिष्टाद्वैतवादी बनना पड़ता है, जैसे गानेमें सा, रे, ग, म, प, ध, नी, तक पहुँचनेपर भी 'नी' में ज्यादा समय नहीं रहा जा सकता, और सुरके विलोमके क्रमसे वापस 'सा' में उतरना पड़ता है, उसी तरह समाधिमें अद्वैत-बोध होनेके बाद फिर नीचेकी अवस्थामें आ अहंबोध रखकर रहना पड़ता है। एक बिल्वफल लेकर विचार करो कि उसकी छाल, गूदा और बीज—इन सबमें बिल्वफल कहाँ है ? पहले तो छालको असार जानकर फेंकदो, इसीप्रकार बीजको भी, फिर उसका गूदा लेनेसे ऐसा बोध होता है कि यही वास्तविक बिल्वफल है। किन्तु वापस फिर विचार करो, तो समझमें आएगा कि जिसका गूदा है, उसीकी छाल है और बीज भी उसीका है— ये सब मिलकर ही एक बिल्वफल बनता है। ठीक इसी प्रकार नित्यस्वरूप ईश्वरको समाधिमें प्रत्यक्ष करनेके पश्चात् मालूम पड़ता है कि जो नित्य हैं, वे ही लीलारूपसे जगत् हैं, निर्गुण और सगुण ब्रह्ममें कोई खास फर्क नहीं है, केवल अपनी समझका ही फेर है। वस्तु एक ही है, पर दृष्टिके फेरसे बहुरूपसे दिखाई देती है।

श्रीरामकृष्णदेव कहते थे, कि कितने ही साकारकी मददसे निराकारमें पहुँचते हैं, और कितने ही निराकारमें से वापस साकारमें आते हैं। निराकार-भाव दो प्रकारका है, एक पक्का और दूसरा कच्चा। पक्का निराकारभाव सर्वोत्तम है। इस निराकारभावमें पहुँचनेके लिए साकारकी मारफत जाना पड़ता है। आंख बन्द करनेसे अँधेरा देखनेसे आता हो तो वह कच्चा निराकार भाव है, क्योंकि यथार्थ साधन किए बिना जो एकदम निराकारका ध्यान धरना चाहता है, उसको अद्वैतभावका पूरा ख्याल नहीं आ सकता, और उसकी अवस्था ऊपर कहे अनुसार कच्ची होती है।"

"भगवान निराकार और साकार दोनों हैं। उनकी 'इति' निर्देश नहीं हो सकती (ऐसा ही है, ऐसा नहीं कह सकते)। भक्तोंके लिए वे साकार बनते

हैं। जो ज्ञानी है अर्थात् जगत्‌को जो स्वप्नवत् मानते हैं, उनके पास वे निराकार हैं। भक्त जानता है, मैं एक वस्तु हूँ और जगत् दूसरी वस्तु है; इससे ईश्वर भक्तोंको व्यक्ति (Personal God) रूपसे दर्शन देते हैं। ज्ञानी केवल 'नेति' 'नेति' विचार करता है। विचार करते करते उसको अन्तर्बोध होता है, कि मेरा 'मैं भाव' और यह जगत् दोनों स्वप्नवत् हैं। याद रक्खो कि ज्ञानी ब्रह्मका जो "बोधेबोध"= (अन्तर्बोध) करता है, सो कह नहीं सकता, कि ब्रह्मका स्वरूप कैसा है। ब्रह्मका स्वरूप कैसा है जानते हो ? जैसे कोई सच्चिदानंद समुद्र हो,—जिसका किनारा देखनेमें नहीं आता हो, और जिसके अंदर भक्तिरूपी हिमके कारण जगह-जगह पानी जम गया हो—ऐसा है। कहनेका तात्पर्य यह है, कि भक्तके पास भगवान इसी प्रकार साकारभाव धारण करते हैं, पर ज्ञानसूर्यके उदय होनेसे बर्फ पिघल जाती है और फिर ईश्वरका व्यक्तिरूपसे बोध नहीं होता। उनका कोई भी रूप देखनेमें नहीं आता, जिसका अनुभव होता है वह तो 'अवाङ्मनसगोचरम्" है, इसके उपरांत इस विषयमें कहेगा भी कौन ? क्योंकि कहनेवाला ही खो जाता है, उसका अहंभाव बिल्कुल ही मिट जाता है, वह तो सच्चिदानंद सागरमें एकरूप हो जाता है, और उनमें ज़रा भी भेद नहीं रहता। भक्तोंके लिए सगुण ब्रह्म भी ज़रूर है, यानी कि भगवानके रूप है, वे दर्शन देते हैं, प्रार्थना सुनते हैं। पर जो कोई मूर्त्ति आदि साकार रूप नहीं मानना चाहें तो ? उनके लिए ईश्वर एक व्यक्ति हैं, वे प्रार्थना सुनते हैं, सृष्टि, स्थिति, प्रलय करते हैं और अनन्त शक्तिशाली हैं, ऐसा बोध होनेसे भी उनका काम चल सकता है।"

—०—

४. नेति नेति और इति इति साधन पथ

जगत्से पर वस्तुके अनुसंधानके लिए शास्त्र दो रास्ते बतलाता है एक नेति नेति, अर्थात् ज्ञानमार्ग, और दूसरा इति इति यानी भक्ति

ज्ञानमार्गका साधक अन्तिम लक्ष्यकी बात पहलेसे ही हृदयमें धारणाकर, ज्ञानपूर्वक उस लक्ष्यकी ओर दिन-प्रतिदिन अग्रसर होता है, परतु भक्तिपथका साधक चरम वस्तु क्या है इस विषयमें बहुतसी दफे अज्ञान होता है। उच्चसे उच्च लक्ष्य ग्रहण करते-करते वह आगे बढ़ता है और अतमें जगत्से अतीत अद्वैत वस्तुके साक्षात् परिचयका लाभ प्राप्त करता है। जगत्के सबधमें साधारण मनुष्योंकी जैसी धारणा होती है, उसका तो इन दोनोंको ही त्याग करना पड़ता है, ज्ञानी पहलेसे ही उसका सर्वतोभावसे त्याग करता है, और भक्त थोड़ा रखकर और थोड़ा त्यागकर साधनमें प्रवृत्त होता है, तथा अन्तमें ज्ञानीकी तरह ही सबकुछ त्यागकर 'एकमेवाद्वितीयम्' तत्त्वमें पहुँचता है। जगत्के सबधमें उल्लिखित स्वार्थपर और भोगसुखैक लक्ष्यकी साधारण धारणाके त्यागको ही शास्त्रमें वैराग्य कहा है। नित्य परिवर्तनशील, निश्चितमृत्युसे मानवजीवनमें जगत्की अनित्यताका बोध सहजसे ही प्राप्त किया जा सकता है, इसलिए जगत्के सबधमें साधारण धारणाका त्याग करके 'नेति' 'नेति' मार्ग द्वारा जगत्के कारणका अनुसधान करनेका मार्ग प्राचीन युगके मनुष्योंने पहलेसे ही ग्रहणकर लिया था, ऐसा मालूम पड़ता है। इसी कारणसे भक्ति और ज्ञानमार्ग ये दोनों एक ही कालमें प्रचलित होने पर भी उपनिषद् युगमें भक्तिकी सपूर्ण परिपुष्टि देखनेमें नहीं आती, पर 'नेति' अर्थात् नित्यस्वरूप जगत्कारण "यह नहीं" "वह नहीं" इस तरह साधनमार्गमें अग्रसर होकर, मानव थोड़े समयमें ही अन्तर्मुख-वृत्तिवाला हो गया था, ऐसे बहुतसे प्रमाण उपनिषदोंमें मिलते हैं। वे ऐसा समझ गए थे, कि दूसरी वस्तुओंकी अपेक्षा शरीर और मन ही उनको जगत्के साथ गाढ़ सबधमें रखते हैं, इसीसे ही शरीर तथा मनका अवलबन करके जगत्के कारणका अन्वेषण करनेसे उसकी प्राप्ति जल्दी होनी संभव है (छान्दोग्य उपनिषदमें इन्द्रविरोचन सवाद देखो)। तपेलीमेंसे भातका एक दाना दबानेसे ही मालूम पड़ जाता है, कि भात पक गया या नहीं, इसी प्रकार अपने अदर ही यदि जगत्के नित्यकारण स्वरूपका अनुसंधान मिल जाय तो दूसरी वस्तुओंमें उसका सधान सहज ही मिल

जायगा। इसलिए "मैं क्या वस्तु हूँ" इस विषयका अनुसंधान ही ज्ञानियोंका लक्ष्य होता है। पीछे कहा जैसे ज्ञानी और भक्त इन दोनोंको जगत् संबंधी साधारण धारणाका त्याग तो करना ही पड़ता है। इस धारणाके संपूर्ण त्यागसे ही मानवमन सर्ववृत्तिरहित होकर समाधिका अधिकारी होता है, और उस समाधिको ही शास्त्रोंमें निर्विकल्प समाधि कहा है।

किमपि सततबोधं केवलानन्दरूपम्।
निरुपममतिवेलं प्रख्यमाख्याविहीनम्॥
निरवधि गगनाभं निष्कल निर्विकल्पम्।
हृदि कलयति विद्वान् ब्रह्मपूर्णं समाधौ।
प्रकृतिविकृतिशून्यं भावातीतं च भावम्॥
(विवेक चूड़ामणि)

केवल, आनन्द, आनन्द,—इसके दिशा नहीं, देश नहीं, आलंबन नहीं, नाम नहीं, केवल अशरीरी आत्मा अपनी ही अनिर्वचनीय आनन्दमय अवस्थामें मनबुद्धिके गोचर जितने भाव हैं उन सबके उसपार, एक प्रकारके भावातीत भावमें अवस्थान करता है, जिसका शास्त्रमें आत्माका आत्मामें रमण कहकर वर्णन किया है। यह अवस्था निर्विकल्प समाधिकी है। इस समय शरीरका भी बोध नहीं रहता, तो खानेपीने, सोने-बैठनेका बोध तो कहांसे रहे? यहाँ 'मैं' 'मेरा' का बोध भी कैसे रहे? यहाँ दो भी नहीं और एक भी नहीं, क्योंकि दोकी स्मृति होवे तो ही एककी स्मृति हो; यहां मनकी सारी वृत्तियाँ शान्त हो जाती हैं। इस स्थितिको ही अद्वैत साधनकी चरम अवस्था कहा है।

अब हम 'इति' 'इति' यानी भक्तिमार्गके विषयमें थोड़ा विचार करते हैं। इस मार्गका साधक जगत्की अनित्यताको प्रत्यक्ष करते हुए भी, जगत्कर्त्ता ईश्वरमें दृढ विश्वास होनेसे उनका उत्पन्न किया हुआ जगत्रूप कार्य सत्य करके मानता है। जगत् और इसके अन्दरकी सारी वस्तु तथा

व्यक्ति ईश्वरके साथ संबंधित हैं, ऐसा देखकर भक्त सबको अपना बना लेता है, और इस संबंधके अनुभव करनेमें जो जो रुकावटें सामने आती हैं, उनका भक्त त्याग करदेता है।

इसके उपरांत ईश्वरके किसी एक रूपके प्रति अनुराग तथा उस स्वरूपके ध्यानमें तन्मय होकर उसकी प्रीतिके लिए सारे कार्योंका अनुष्ठान करना, यह भक्तोंके लिए आरम्भमें सहज लक्ष्य बनता है।

इस स्थितिमेंसे भक्त किसी स्वरूपका ध्यान करते करते जगत्का अस्तित्व भूलकर निर्विकल्प अवस्थामें किस प्रकार पहुँचता है, इस विषयमें अब थोडा विचार करें। भक्त ईश्वरके किसी एक रूपको अपना इष्ट मानकर उस संबधमें विचार और ध्यान करता है। आरम्भमें ध्यान करते समय उस इष्टमूर्त्तिकी संपूर्ण छवि मानस-नयनके समक्ष ला नहीं सकता है। कभी उसका हाथ, तो कभी उसका पैर, कभी उसका मुख मात्र साधकके देखनेमें आता है, पर यह दर्शन थोडी देर ही टिका रहता है और फिर तुरंत ही उसका लय हो जाता है। अभ्यासके फलस्वरूप ध्यान गंभीर होनेसे उस मूर्त्तिकी छवि संपूर्ण आकारमें मनके समक्ष बार-बार खड़ी होती है। ध्यान इससे भी गंभीर होनेसे यह छवि जबतक मन चंचल नहीं होता, तबतक स्थिर होके रहती है, और इसके पश्चात् तो यह मूर्त्ति चलती है, दौड़ती है, हँसती है, बात करती है, और अन्तमें भक्त उसके स्पर्शका भी अनुभव करता है। इस स्थितिमें वह मूर्त्ति उसको सब प्रकारसे जीवित दिखाई देती है, और भक्त आँखें बन्द रक्खे या न रक्खे, ध्यान धरे या न धरे, तो भी उस मूर्त्तिकी सारी लीलाएँ एक ही प्रकारसे प्रत्यक्ष करता है। इसके पश्चात्, "मेरे इष्टदेवने ही अपनी इच्छानुरूप भिन्न-भिन्न रूप धारण किए हैं," ऐसे विश्वासके फलस्वरूप साधक अपनी इष्टमूर्त्तिमें ही भिन्न-भिन्न प्रकारके दिव्य रूपोंका दर्शन करता है। श्रीरामकृष्ण कहते थे कि, "जो व्यक्ति जिस किसी, एक रूपका ऐसे जीवन्त भावमें दर्शन करता है, उसको दूसरे रूपोंका दर्शन सहज ही मिलता है।"

ऐसी जीवन्त मूर्त्तियोंके दर्शन करना जिस साधकके भाग्यमें होता है, उसको जाग्रत कालके दृष्ट पदार्थोंकी तरह ध्यानकालमें देखनेमें आती भावराज्यगत ये मूर्त्तियां भी उतनी ही सच्ची मालूम होती हैं। बाह्य-जगत् और भावराज्यके समान अस्तित्वका बोध जितने प्रमाणमें बढ़ता जाता है, उतने प्रमाणमें साधकके मनमें बाह्यजगत मन-कल्पित है ऐसी धारणा दृढ होती जाती है। फिर गंभीर ध्यानमें भावराज्यका अनुभव भक्तके मनमें इतना प्रबल होता है, कि उस समय उसके मनमें बाह्यजगत्का अनुभव ज़रा भी नहीं रहता। इसीको शास्त्रमें सविकल्प समाधि कहा है। ऐसी समाधिके समय मानसिक शक्तिके प्रभावसे भक्तोंके मनमेंसे बाह्यजगत्का विलय होनेपर भी, भावराज्य का विलय नहीं होता। जगत्में दृष्ट वस्तु तथा व्यक्तियोंके साथ व्यवहार करते समय, हम जिस सुखदुःखका अनुभव करते हैं, उसी सुखदुःखका अनुभव भक्त अपनी इष्टमूर्त्तिके साथ करता है, इसलिए एकमात्र इष्ट-मूर्त्तिका ही आश्रय करके उसके मनमें सकल्पविकल्पका उदय होता है। मुख्यतया एक विषयका अवलंबन करके ही भक्तके मनमें ऐसी वृत्तियोंका संचार होता है, इसीलिए शास्त्र इस अवस्थाको सविकल्प यानी विकल्प-संयुक्त कहता है।

इस प्रकार भावराज्यके मध्यस्थित विषयविशेषके विचारकी प्रबलताको लेकर भक्तके मनमेंसे स्थूल जगत्का लय तो हो ही जाता है, पर अन्य सकल भावोंका भी विलय हो जाता है। जो भक्त इतना दूर पहुँच सका है, निर्विकल्प समाधि उसके बहुत ही नज़दीक है।

जगत्के बहुकालव्यापी भोगके अभ्याससे जो अस्तित्वज्ञान हुआ है, उसको दूर करनेमें जो समर्थ हुए हैं, उनका मन अधिक शक्तिसम्पन्न और दृढ संकल्पवाला है, इसमें ज़रा भी सदेह नहीं। मनको एकदम निर्विकल्प बनानेसे ईश्वरीयभोग अधिक होता है, अल्प नहीं—ऐसी धारणा एक दफे हो जाय, तो उस साधकका मन उत्साहसे ईश्वरकी ओर दौड़ता

है, और श्रीगुरु तथा ईश्वरकी कृपासे वह साधक भावराज्यकी चरम भूमिमें आरोहण करके अद्वैतज्ञानमें अवस्थान पूर्वक चिरशांतिका अधिकारी बनता है, अथवा ऐसे भी कह सकते हैं, कि गाढ़ इष्टप्रेम ही उसको इस भूमिमें लेजाता है, और ब्रजगोपियोंकी भाँति, इस प्रेमकी प्रेरणासे ही वह साधक अपने इष्टके साथ एकत्व अनुभव करता है।

—०—

५. स्थितप्रज्ञ और व्यवहार

स्वरूपके ज्ञानद्वारा ब्रह्म संबंधी अज्ञानका नाश करके जिसने अपने अखण्ड ब्रह्मस्वरूपका साक्षात्कार किया है, ऐसा अविद्यादि अखिल बंधनोंसे रहित ब्रह्मनिष्ठ पुरुष जीवनमुक्त, स्थितप्रज्ञ, तत्त्ववेत्ता, विज्ञानी इत्यादि नामोंसे संबोधित होता है (देखिये गीता अ० २— स्थितप्रज्ञके लक्षण)।

भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन्दृष्टे परावरे॥

"उस परावरः परमात्माके साक्षात्कारसे हृदयकी ग्रन्थियोंका भेदन हो जाता है, सर्व संशय दूर हो जाते हैं, और सर्व कर्मोंका क्षय हो जाता है।" इस श्रुति वचनसे भी ऊपर कही हुई बातकी पुष्टि होती है।

ऐसे ज्ञानी पुरुष, शरीर तथा इन्द्रियोंकी अधता, मदता तथा अपटुता आदि कारणोंसे, और क्षुधा-पिपासा, शोकमोहादिके कारण प्रारब्धभोगों-के दुःखकर होते हुए भी विचलित नहीं होते, क्योंकि वे जानते हैं, कि ये सब इन्द्रजालकी तरह ही विना अस्तित्वके हैं। जो एक दफे इन्द्रजाल देखलेते हैं, वे फिर इस विषयमें भ्रममें नहीं पड़ते, उसी प्रकार विज्ञान-लाभ होनेके बाद केवल शुभवासनाओंकी ही अनुवृत्ति हुआ करती है, अथवा शुभाशुभमें उदासीनता प्रकट होती है। इसीलिए नैष्कर्म्यसिद्धिमें कहा है कि :—

बुध्याद्वैतसतत्त्वस्य यथेष्टाचरणं यदि ।
शुनां तत्त्वदृशां चैव को भेदोऽशुचि भक्षणे ॥

"अद्वैत तत्त्वज्ञान होनेके पश्चात् भी यदि यथेच्छाचारकी वासना रह जाय, तो फिर अपवित्र पदार्थोंका भक्षण करनेवाले कुत्तेमें और तत्त्वज्ञानीमें भेद क्या ?"

ज्ञानी कभी यथेच्छाचारी नहीं होता । उसका अंत.करण शुद्ध होनेसे केवल शुद्ध वासनाओंका ही उसमें उदय होता है ; पर यह याद रखना चाहिए, कि तत्त्वज्ञानकी बातें अधिक प्रमाणमें जाननेसे ही ज्ञानी नहीं होता, ऐसे मनुष्यको तो केवल पंडित ही कहा जा सकता है ।

स्वरूपकी उपलब्धि होनेके बाद ही यथार्थ ज्ञानका लाभ होता है । इसके बाद पुरुष भ्रमसे भी अनीतिकर या असत् कार्यका विचारतक नहीं कर सकता । इसका दृष्टांत श्रीरामकृष्णके जीवनसे मिलता है ।

एकसमय परमहंसदेव मंदिरके पास घूमते-घूमते एक सद्गृहस्थके यहां पहुँच गए । उस समय परमहंसदेवके पेटमें दर्द हो रहा था । यह बात सुनकर उस सद्गृहस्थने कहा :—

"आज रातको आप थोड़ा अफीम लेवो तो आराम हो जायगा । जाते समय आप मेरे पाससे मांग लेना ।"

पर बातें करते-करते दोनोंको इस बातकी विस्मृति हो गई, और वहाँ-से उठते समय परमहंसदेव अफीम मांगना भूलगये । थोड़ी दूर जानेपर परमहंसदेवको यह बात याद आई, सो फिर वापस वे अफीमके लिए उस गृहस्थके घर गए, और उसके नौकरसे बातचीत करते मालूम हुआ कि वह गृहस्थ तो सो गया है, पर उस नौकरने उनको थोड़ा अफीम दिया और कहा कि, "इतनीसी चीज़के लिए घरके मालिकको कोई पूछनेकी ज़रूरत नहीं, आप बेखटके लेजाइए ।"

श्रीरामकृष्ण अफीमकी फिरकी लेकर मंदिरकी ओर चले, पर उस गृहस्थके घरमेंसे बाहर निकले तो उनको रास्ता दिखाई पड़ना बंद होगया !

उसने भी नारदजीसे विनति की, कि "आप नारायणसे पूछना कि मुझे दर्शन देंगे या नहीं ?"

यथासमय नारदऋषि वैकुण्ठमें पहुँचे और इधर-उधरकी बातें करनेके बाद उन्होंने ऊपर बताये हुए दोनों साधकोंकी विनति नारायणसे कही। भगवान नारायणने उत्तर दिया, कि "तपस्वी साधकको कहना कि जिस वृक्षके नीचे वह बैठा है, उस पेडके जितने पत्ते हैं उतने जन्मोंके बाद उसका प्रारब्ध क्षय होगा और तब वह मेरे दर्शनोंको प्राप्त होगा, और भक्त साधकको भी ऐसा ही जवाब देना।"

तपस्वी साधक तो एक केलेके नीचे बैठकर तप करता था, उसको तो बहुत प्रसन्न होना चाहिए था, पर नारदजीके मुँहसे यह बात सुनकर वह बिल्कुल निरुत्साह हो गया और तप छोड़कर अपने घर चला गया।

दूसरा भक्तसाधक जो बड़े भारी इमलीके पेड़के नीचे बैठा हुआ था, ऐसा उत्तर सुनकर आनन्दमें मग्न होगया और प्रेमोन्मत्त होकर, "एक दिन दर्शन तो देवेंगे ना।" ऐसा कहकहकर नाचने लगा। इस प्रकार वह नाच रहा था, उसी समय भगवान नारायण उसके समक्ष प्रकट हुए और उसको दर्शन देकर कृतार्थ किया।

नारदजीको तो बहुत आश्चर्य हुआ और कहने लगे, "प्रभु ! आपने अभी ही मुझे कहा था कि इस पेडपर जितने पत्ते हैं उतने जन्मके बाद दर्शन होंगे, पर आप तो आज ही हाजिर हो गए !"

नारायणने कहा --"नारद ! मैंने जो कहा था, सत्य ही कहा था, पर यह साधक मेरे प्रेममें इतना ज्यादा उन्मत्त हो गया कि इसके सारे प्रारब्धका तत्क्षण क्षय हो गया और इसको दर्शन देनेका समय आ जानेसे मेरेको तुरन्त ही आना पड़ा।"

एक असत् अथवा सत् प्रारब्ध दूसरे अधिक प्रबल सत् अथवा असत् प्रारब्ध द्वारा बाधित होता है।

विज्ञान भी यही बात सिद्ध करता है। एक प्रबल शक्तिप्रवाहको रोकनेके लिए दूसरे अधिक प्रबल शक्तिवाले प्रवाहकी सृष्टि करनी चाहिए। इसी प्रकार दूसरे (संचित तथा क्रियमाण) कर्मफलोंकी तरह प्रारब्धका भी निवारण किया जा सकता है। अज्ञानी पुरुष प्रारब्धमें क्या है सो नहीं जान सकता, परन्तु तत्ववित्—सर्वज्ञत्व आदि गुणसंपन्न परमात्माका साक्षात्कार करनेके बाद सबकुछ जाननेको समर्थ होता है। इससे यदि वह इच्छा करे, तो स्वप्रकृति अपने आधीन होनेके कारण प्रारब्धको भी रोक सकता है; परन्तु भक्तसाधक परमात्मामें स्वार्पण किया हुआ होनेसे यह सब जानते हुए भी वह सब ईश्वरकी इच्छापर छोड देता है और प्रफुल्लचित्त-से प्रारब्धफल भोगता है। ऐसे साधकोंका जीवनमंत्र "प्रभु तेरी इच्छा पूर्ण हो," यही होता है।

आरम्भमें एक परमात्मा ही स्वमहिमामें विराजित थे; उन्होंने ऐसी इच्छा की कि, "बहु प्रजाकी सृष्टि करूं", और इस प्रकार प्रजासहित सर्व लोकोंकी सृष्टि की।" श्रुतिमें ऊपर लिखा प्रमाण दिया है। इस मूलसूत्र पर भक्तिशास्त्र संगठित है। भक्त, भगवानकी इच्छा ही सब वस्तुओंकी कारणरूप है, ऐसा मानता है, और यह सुखदुःखमय संसार उनकी लीलाके लिए ही है, ऐसा समझता है। लीलाके लिए उत्पन्न की हुई यह सारी रचना उनकी इच्छा होगी तब बन्द होगी, और इस लीलामें नाना प्रकारके सुखदुःखोंका अनुभव भी उनकी इच्छा से ही हुआ करता है।

यदि ऐसा है तो ईश्वरका तंत्र निष्ठुर है, ऐसी किसीको आशंका हो सकती है।

परन्तु प्रकृत भक्त कहते हैं, कि वे निष्ठुर नहीं हैं, क्योंकि इच्छामात्रसे ही उन्होंने संसारसृष्टिका निर्माण किया है, उनके विराट् मनमें उदय होकर इन इच्छाओंने संकल्पात्मक अखिल विश्वब्रह्मांडकी रचना की है, तथा इस संकल्पप्रभावसे उन्होंने इन सबमें प्राणरूपसे प्रवेश किया है। उन्होंने स्वयं ही लीलाके लिए ये सब रूप

धारण किए हैं, और सुखदु:ख, जन्ममृत्यु आदिकी रचना की है। सर्वज्ञ होनेपर भी लीलाके लिए उन्होंने स्वल्प अज्ञताको स्वीकार किया है, और सुखदु:खके वश होकर वे ही विचरते हैं। अपनी इच्छा मात्रसे भगवान किसी एक रूपमें स्व-रूपकी उपलब्धि करके इस आनन्दका संवाद दूसरों-को देकर पहले रूपका अपनेमें संवरण कर लेते हैं। यही लीला अनन्त कालसे चल रही है, और अब भी अनन्त कालतक चलेगी "मैं" "तू" "सारा जगत्"—यह सब प्रभु रूप ही है, अथवा उनका मनोमय रूप है, इससे कर्मफल, प्रारब्ध इत्यादिका कुछ अर्थ ही नहीं। यह सब उनकी इच्छामात्र है—सर्वमय परमपुरुषकी लीला है।

यह जगत् एक बड़ी नाट्यशाला है, जहाँ संसाररूपी नाटक हो रहा है। लीलामय भगवान अपनी मायाका अवलबन करके नाटकके पात्ररूप और प्रेक्षकरूप हुए हैं, और आनन्द भोग रहे हैं। एक नाटक पूरा होने पर दूसरा नाटक शुरू होता है और जिस पात्रका पार्ट पूरा हो गया होता है, उसको घर जानेकी छुट्टी मिलती है। इस छुट्टीको भक्तिशास्त्रमें मुक्ति कहते हैं, योगी इसको स्वरूपमें लय कहते हैं और वेदान्ती इसको स्वमहिमा में प्रतिष्ठा अथवा स्वरूपमें स्थिति नामसे वर्णन करते हैं।

बहुतसे ऐसी शंका उठाते हैं, कि यदि ईश्वर ही यह सब है, तो फिर भक्ति, पूजा आदि सब साधना निरर्थक है। परन्तु ऐसी मान्यता ठीक नहीं है, क्योंकि यह भी उनकी लीला ही है। भक्त बनकर वे ही भगवानरूपसे भक्ति, पूजा आदि ग्रहण करते हैं, इसके प्रमाण पुराणों तथा भक्तोंके जीवनमेंसे मिलते हैं। श्रुतिमें भी यह बात प्रकारांतरसे समझाई है।

सर्व वस्तुओंका मायिक स्वभाव जानकर ज्ञानी पुरुषकी इन विषयोंके भोगमें फिर प्रवृत्ति नहीं होती, जिस प्रकार मृत्युशय्या पर पड़ा हुआ पुरुष विवाह करनेकी वासना नहीं करता, किन्तु मृत्युकालकी ही अपेक्षा करता है, उसी प्रकार ज्ञानी पुरुष भी सुखदु:खमय प्रारब्ध भोगके अवसानकी राह देखता है। इसका अर्थ यह नहीं होता, कि हाथ-पैर समेटकर जड़वत्

पड़ा रहता है। ज्ञानी तो जगत्के मिथ्यात्वका बोध होनेपर भी सर्व-साधारणके कल्याणके लिए व्यवहारमें प्रवृत्त ही रहता है। स्वामी विवेकानन्द कहते थे, कि जब हम संसारमें आ ही पड़े तो चलो, हम शैतान-का निरन्तर सामना करो यानी कि उत्तम व्यवहारमें नियुक्त रहो। ज्ञानी पुरुष ध्यानरत व्यक्तिकी तरह लौकिक आचारादि पालनेमें असमर्थ नहीं होता, किन्तु इसके विपरीत वह तो पूर्वापेक्षा अधिक सुन्दर दक्षतासे यह सब संपादन कर सकता है। जनकादि राजाओं तथा वसिष्ठादि ऋषियोंकि जीवनकी आलोचना करनेसे यह सत्य ठीक-ठीक समझमें आएगा। ये सब परम तत्त्ववेत्ता होनेपर भी लोककल्याणके लिए सारे व्यवहार चलाते थे, क्योंकि "श्रेष्ठ पुरुष जैसा आचरण करते हैं, दूसरे भी वैसा ही आचरण करते हैं, वे जिसको प्रमाण करके स्वीकार करते हैं, अन्य मनुष्य भी उसका ही अनुवर्त्तन करते हैं।" (गीता अ० ३ श्लोक २१) यदि वे साधारण मनुष्योंकी तरह व्यवहार न करें, तो समाजमें अत्यंत अव्यवस्था उत्पन्न होजाय। इसीलिए कृष्ण भगवान कहते हैं कि :—

न बुद्धिभेदं जनयेदज्ञानां कर्मसङ्गिनाम्।
जोषयेत् सर्वकर्माणि विद्वान्युक्तः समाचरन्॥

(गीता अ० ३—२६)

"कर्म और फलमें आसक्त अज्ञानियोंकी बुद्धिमें योगसिद्ध कृतकृत्य ज्ञानी पुरुषोंको संशय पैदा नहीं करना चाहिए; और अच्छी प्रकारसे कर्मोंका आचरण करते रहकर उन सबको भी कर्ममें ही जोड़ना चाहिए।"

दूसरी एक जगह गीतामें कहा है कि, लोकहितेच्छु तत्त्वज्ञानियोंको अनासक्त होकर अज्ञानियोंकी भांति व्यवहार करना चाहिए। इसका अर्थ यह नहीं, कि अज्ञानियोंकी तरह सद्विवेकशून्य होकर कर्मानुष्ठानमें रत होना। उनमें लेशमात्र भी स्वार्थ नहीं होनेसे अज्ञानियोंकी भांति अपने ही स्वार्थकी ओर लक्ष्य रखनेमें वे असमर्थ होते हैं। सबका कल्याण ही

उनका ध्येय होता है, इसलिए जिस धर्म, जाति, समाज अथवा देशमें वे शरीर धारण करते हैं उसके कल्याणके लिए वे प्राणपणसे प्रयत्न करते हैं। इन विषयोंमें भेदबुद्धि उत्पन्न करके वे अज्ञानियोंको विचलित नहीं करते। दृष्टान्तके लिए धर्मज्ञानका विषय लीजिए। अपने वैदिक धर्ममें नानाप्रकारके सांप्रदायिक मतभेद देखनेमें आते हैं,—द्वैत, विशिष्टाद्वैत, शुद्धाद्वैत, अद्वैत इत्यादि। लोग अपनी बुद्धिके अनुसार ईश्वर तथा धर्मके संबंधमें धारणायें बाँधते हैं। उक्त मतवादोंमेंसे जिसकी बुद्धिमें जो ठीक बैठे उसी रास्ते उसको जाने देना चाहिए। द्वैतवादमें विश्वासवाले पुरुषको प्रबल युक्तिद्वारा अद्वैतवाद समझानेकी कोशिश करें तो उसका दिमाग इतना बलवान नहीं होनेसे वह ग्रहण नहीं कर सकता; और इसके परिणाम स्वरूप उसका भाव नष्ट हो जायगा, तथा उसके धर्मजीवनमें विघ्न उपस्थित होगा। शरीरमें जैसे शैशव, कौमार, यौवनादि प्राकृतिक् वृद्धि होती है, उसी प्रकार मनोराज्यमें भी समझना चाहिए। इसलिए शिशु-मन द्वैत वादियोंको अद्वैतवाद, वृद्धके विज्ञतापूर्ण वचनोंकी तरह पूर्णतया बोधगम्य नहीं होता, परन्तु यदि उनको विशिष्टाद्वैतवाद समझाया जावे तो वह उनके अनायास ही समझमें आ जायगा, क्योंकि उसका द्वैतवादके साथ घनिष्ट संबंध है। इसी तरह विशिष्टाद्वैतके बाद अद्वैतवाद आसानीसे समझमें आता है। जबतक देहात्मबोध अधिक भावमें वर्तमान रहता है, तबतक द्वैतवाद ही उपयुक्त समझना चाहिए। इसके पश्चात् देहात्मभाव ज़रा क्षीण होनेपर विशिष्टाद्वैत और उसका पूर्णतया लोप होनेके बाद अद्वैतवाद। यथार्थ ज्ञानी आचार्य इसको समझकर बुद्धिभेद पैदा किए बिना ही ईश्वरके संबंधमें उपदेश देते हैं, अन्यान्य विषयोंमें भी इसी प्रकार समझ लेना चाहिए—अर्थात् धीरे धीरे क्रमानुसार अज्ञानी मनुष्योंको पूर्ण ज्ञानकी तरफ लेजाना। शास्त्रमें इस बातको अधिकारी भेदके नामसे वर्णन किया है।

तत्त्वज्ञानी समदृष्टिसंपन्न होनेसे, वर्णाश्रमादि शास्त्रीय विधियोंका

पालन करनेमें असमर्थ ठहरते हैं। सच बात तो यह है, कि वे सब प्रकारके विधिनिषेधोंके पार पहुँचे हुए होते हैं, और केवल स्वेच्छासे ही वे उत्तम विधियोंका पालन करते हैं। जो जितेन्द्रिय ज्ञानी पुरुष भूतमात्रमें एक ही आत्माका वास अनुभव करते हैं, उनके शुद्ध अन्त.करणमें किसी प्रकारके मलिन भावका उदय हो ही नहीं सकता, और इसलिए कुछ भी मलिन कार्य उनसे नहीं बनता। ऐसे ज्ञानी पुरुष जो कुछ करें, या कहें उसको प्रमाण माननेमें कुछ दोष नहीं, (देखो गीता, अ० ३–२१) क्योंकि शुद्धांत.करणमें प्रत्येक वस्तु तथा अवस्थाका सत्यरूप ही प्रतिफलित होता है, अर्थात् शुद्धकी शुद्धता और मलिनकी मलिनता उनसे छिपी नहीं रह सकती; प्रत्येक वस्तुके संस्पर्शमें आते ही वे उसका यथार्थ स्वरूप समझ जाते हैं, और इससे व्यवहारमें वे ज़रा भी भूल नहीं करते, तथा उनका आचरण प्रमाणभूत मानकर ग्रहण होता है।

सर्वत्र समदर्शी पुरुष आत्मानंदमें मग्न रहते हैं, और उनकी तरफसे अन्य लोगोंको तथा अन्य लोगोंकी तरफसे उनको त्रास नहीं होता। (देखो गीता, अ० १२ श्लोक १५)।

सदा संतुष्ट चित्तसे वे हर्ष और खेद, भय और विषाद, सुख और दु.ख इत्यादि द्वन्द्वोंसे विमुक्त, तथा निन्दा और स्तुति, मान और अपमानमें समबुद्धि होकर, निज आत्मातुल्य बोध होनेसे सर्वभूतोंमें समदृष्टि रखते हैं, और अनासक्त होकर परम धैर्य तथा उत्साहके साथ कर्तव्यकर्मका अनुष्ठान करते हैं। उनकी दृष्टिमें लोहे, पत्थर और सोनेके बीचमें, लोभशून्य होनेसे, किसी भी प्रकारका प्रभेद प्रतिभात नहीं होता, अर्थात् समानभाव होनेसे वे कार्पण्यदोषशून्य और कांचन संश्लिष्ट सर्व प्रकारके पापसे मुक्त रहते हैं। लोककल्याणके सिवाय दूसरा कोई स्वार्थ नहीं होनेसे, भ्रमवशात् कोई स्वार्थांध व्यक्ति उनके साथ शत्रुता बाँधे, पर फिर भी वे विद्वेषभावसे अलिप्त रहते हैं, और अपने मित्रकी तरह उसकी भी कल्याणकामना करते हैं। किसी कामकी सिद्धिमें आनन्दसे उत्फुल्ल नहीं

होते, अथवा असिद्धिमें दुःखग्रस्त नहीं होते। सब अवस्थाओंमें अचल रहकर, इच्छामात्रसे सर्व प्रवृत्तियोंमेंसे मन निकालकर, आत्माराम हो विचर सकते हैं। वे स्ववशीकृत मन तथा इन्द्रियों द्वारा रागद्वेष-रहित हो कार्यका अनुष्ठान करते हैं, इससे हर समय उनके अन्तःकरणमें शान्ति विराजती है, और निस्पृह, निर्मल तथा निरहंकार होनेके कारण उनका चित्त-प्रसाद कभी घटता नहीं।

सब प्रकारके विधि-निषेधोंकी हदके बाहर होनेपर भी, ज्ञानी पुरुषोंके कर्म सदा निर्दोष तथा पापशून्य ही होते हैं। ईश्वरकी इच्छाद्वारा प्रेरित होकर कभी कभी वे लोक-बुद्धिके समझमें न आवे ऐसे कार्य कर देते हैं, किन्तु ऊपरी दृष्टिसे दोषयुक्त मालूम होनेपर भी, ऐसे कर्मोंका फल देखनेसे समझमें आता है, कि वह निर्दोष बुद्धिसे तथा कोई विशेष कल्याणके लिए ही किया हुआ होता है। पवित्र हृदयके तत्त्वज्ञ पुरुष लोकहितार्थ अथवा लोकशिक्षार्थ अनेक मनुष्योंके प्राणोंका नाश करनेपर भी पापलिप्त नहीं होते, क्योंकि भगवदिच्छाके आधीन रहकर यन्त्रवत् परिचालित होकर कर्म करनेवाला पुरुष 'अहं कर्ता' ऐसे बोधसे रहित होनेसे कृतकर्मके लिए उत्तरदायी नहीं रहता। श्रीमद्भगवद्गीतामें भी कहा है कि—

यस्य नाहंकृतो भावो बुद्धिर्यस्य न लिप्यते।
हत्वापि स इमाँल्लोकान्न हन्ति न निबध्यते॥
(गीता अ० १८ श्लोक १७)

एक दूसरी बात भी ध्यानमें रखनी चाहिए। भक्त समदर्शी होता है यह सत्य है, पर इसका अर्थ यह नहीं, कि वह चोर तथा लपटकी भी साधु पुरुषकी भाँति पूजा करता है, हाँ! पूजा करता है ज़रूर, पर पुष्पसे नहीं, किन्तु अच्छीप्रकार डंडेसे। 'जैसा देव, वैसी पूजा' 'शठ प्रति लट्ठं कुर्यात्' इस नीतिका वे उल्लङ्घन नहीं करते। (देखिये, महाभारत) परन्तु जो लोकशिक्षाकी तरफ ध्यान रखे बिना आत्माराम होकर उन्मत्तवत्, पिशाच-

वत् या बालकवत् विचरण करते हैं उन विज्ञानियोंका व्यवहार साधारण नीतिके विरुद्ध हो सकता है, पर इसका दोष उनको नहीं लगता, और वे नीतिवान् पुरुषोंसे किसी अंशमें भी कम नहीं होते। वे इच्छा हो तो बाघको भी आलिंगन कर सकते हैं, (देखिये बुद्धदेवका जीवन चरित्र) अथवा चोर-लंपटकी साधु पुरुषकी तरह पूजा भी कर सकते हैं, (पवहारी बाबाका जीवन चरित्र)। परन्तु यदि समाज उनका अनुकरण करने लगे तो सामाजिक नीति-व्यवस्था स्थानभ्रष्ट हो जाय, और अनाचार तथा अनीतिकी मात्रा इतनी अधिक होजाय, कि सांसारिक लोगोंका जीवन अति दुःखमय बन जावे। इसीलिए 'महाजनो येन गतस्स पन्था' होनेपर भी महाजन महाजनके आचरणमें भेद पड़ता है। जो जिस आदर्शको ग्रहण करके जीवन बिताना चाहते हैं, उनको उस आदर्शके उच्चतम शिखरपर स्थित व्यक्तिका अनुसरण करना चाहिए; और तब ही श्रेय लाभ होता है। गृहस्थ और संन्यास जीवनमें अनेक प्रभेद हैं। दोनोंका गम्यस्थान अन्तमें एक होनेपर भी वे उत्तर और दक्षिण ध्रुवकी तरह एक दूसरेसे अत्यन्त दूर हैं। इस ख्यालको भूल जानेसे ही भारतवर्षके गृहस्थ-जीवनमें कर्तव्याकर्तव्यके संबधमें इतना ज्यादा गड़बड़ देखनेमें आता है। अज्ञ धर्माचार्य त्यागीके धर्मका उपदेश गृहस्थको देते ज़रा भी नहीं हिचकिचाते। गृहस्थाश्रमियोंको अतिआश्रमियोंके जीवनका आदर्श बताकर वे सामाजिक जीवनमें अव्यवस्थाकी सृष्टि करते हैं। जिनका चित्त संसारके सुखभोगमें होता है, वे अनेक बार इन विषयोंके अनित्यत्वका सदेशा सुननेपर भी, अनेक प्रकारके दुःखभोग भोगनेपर भी, इनको छोड़ नहीं सकते। ऐसे मनुष्योंके पास शुकदेव, सनकसनातन, नारदादिके जीवन आदर्शकी बातें करना निरी-मूर्खताके सिवाय और कुछ नहीं, उनको तो व्यास, वसिष्ठ, जनक, युधिष्ठरादिके जीवन-आदर्शोंका ही उपदेश करना चाहिए। यह सब वे समझ सकेंगे, और इससे उनका यथार्थ कल्याण भी होगा। शुकदेवादि और व्यास वसिष्ठादि एक ही तरह महाजन पदवीके योग्य हैं इसमें संदेह

नहीं, पर एक सन्यासी या त्यागी चतुर्थाश्रमीका आदर्श है, जब कि दूसरा गृहस्थोंके लिए आदर्शरूप है। इसलिए ये सब महाजन होने पर भी, जो व्यक्ति जिस आदर्शके अनुसार अपना जीवन गठन करना चाहे, उसको, उस प्रकारके आदर्शका जिस महाजनके जीवनमें श्रेष्ठतम विकास हुआ हो, ऐसे सत् और विज्ञ पुरुषका अनुकरण करना चाहिए। 'जिसको जो पचे उसको वही देना' ऐसा श्रीरामकृष्ण परमहंस कहते थे। इस कथनमें अतिगूढ़ सत्य समाया हुआ है, और यह भारतवर्षके ऋषि-मुनियोंका श्रेष्ठ आविष्कार है। इसकी विस्मृति होनेसे ही अपने धार्मिक तथा नैतिक जीवनमें अव्यवस्था देखनेमें आती है।

चतुर्थाश्रमियोंकी भाँति सत्य, नीति, क्षमा, दया आदि गुण गृहस्थाश्रमियोंके अनुकरण करने योग्य होनेपर भी इनकी मात्रामें न्यूनाधिक होता है। एक सन्यासीको कोई दुष्ट पुरुष बार-बार उत्पीड़ित करे तो भी वे उसको क्षमा करेंगे, क्योंकि यह उनका धर्म है, किन्तु यदि एक गृहस्थ ऐसा करे तो ठीक नहीं। किसी भी प्रकारके विद्वेषके बिना ऊपर बताये दुष्ट प्रवृत्तिवाले भ्रात भाईको, हो सके तो अच्छी तरहसे समझाकर अथवा ऊपरी गुस्सा दिखाकरके (दंश नहीं करके सर्पवत् फुफाड़ा मार) ज़रा डराकर सीधे रास्तेपर लानेकी कोशिश करनी चाहिए और यदि ऐसे न माने तो कठोर शिक्षा करके भी उसको ठीक रास्तेपर लानेमें हिचकिचाना न चाहिए। इस भावसे आचरण करनेसे ज्ञानीको पाप स्पर्श नहीं कर सकता, ऐसा शास्त्र भी कहते हैं। 'एक गालपर थप्पड़ पड़े तो दूसरा सामने करना' (महात्मा क्राइस्टका शिक्षण) यह सन्यासीके लिए प्रशंसाजनक नीतिसूत्र है, परन्तु गृहस्थियोंको इसका अनुकरण नहीं करना चाहिए, नहीं तो उनको हमेशा थप्पड़ ही खाना पड़ेगा। नीतिज्ञ पुरुष कहते हैं, कि साम, दाम, दंड, भेद आदिका व्यवहार ज़रूर करना चाहिए, और धर्म भी उपदेश करता है कि विज्ञ व्यक्तियोंको देश, काल, अवस्थाके प्रति लक्ष्य रखकर आसक्तिशून्य तथा निश्चल चित्तसे आचरण करना

चाहिए। सामाजिक प्रथाएं, नीति-नियम सदा परिवर्तनशील हैं, इसलिए ज्ञानी इनमें आसक्त नहीं होते; किन्तु असत्, अनुचित प्रथाओंके संशोधनके लिए लोकनिन्दासे बिना डरे स्वयं उत्तम आचरणपूर्वक जनसमाजको उपदेश देते हैं।

आचरण सम्बन्धी विचार करते समय दो विषयोंकी तरफ लक्ष्य रखना चाहिए:— (१) उद्देश्य (२) प्रयोग अथवा वाह्यिक आचरण। यद्यपि उद्देश्य ही प्रधानतया विचारणीय है, और इसका विचार करनेसे ही निश्चयपर आ सकते हैं, पर साधारण बुद्धिके मनुष्य यह समझ नहीं सकते, इसलिए उद्देश्य और आचरण इन दोनोंकी ओर लक्ष्य रखना चाहिए।

ज्ञानी पुरुषोंके सारे आचरणोंके मूलमें समाजका उत्कर्ष साधन रूप उद्देश्य रहता है, लोगोंका इहलौकिक तथा पारलौकिक कल्याण साधन ही उनके जीवनका मूलमन्त्र बनता है। ऐसे ज्ञानी पुरुष पापके बदलेमें पाप नहीं करते, पर विद्वेषभाव-शून्य होकर, पापके दमनके लिए यथाकर्तव्य करनेमें जरा भी नहीं डरते। इसीलिए भगवान श्रीकृष्ण अर्जुनको उपदेश देते हुए कहते हैं:—

तस्मात् सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर युध्य च।
मय्यर्पित मनोबुद्धिर्मामेवैष्यस्य संशयम्॥

"इसलिए सर्वकाल तू मेरा स्मरण करता रह और युद्ध कर। मेरेमें मन-बुद्धि अर्पण करनेसे निःसंशय तू मेरेको ही प्राप्त होगा।" और इसीप्रकार यदि तू तेरे कर्तव्यको करेगा, तो 'अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः' "मैं तुझे सर्व पापोंसे मुक्त कर दूँगा, इस विषयमें तू निश्चिन्त रह।"

ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः॥ ॐ॥

प्रकरण पाँचवां

—•—

उपाख्यान तथा भक्तोंके चरित्र*

कपोत कपोतीका उपाख्यान

(अतिस्नेह हानिकारक है)

एक बनमें कपोत और कपोती रहते थे। इस जोड़ेमें परस्पर प्रगाढ़ प्रीति थी। दोनोंका एक मन होनेसे वे साथ ही उड़ते, साथ ही फिरते, और साथ ही खाना खाते, मानों दोनोंका एक ही जीवन हो। कपोती जो जो वस्तु माँगती, वह चाहे जितना कष्ट हो प्रेमाधीन कपोत लाकर देता। थोड़े समयके बाद कपोतीको गर्भ रहा और उसने घोंसलेमें अंडे दिये, यथासमय उनमेंसे बच्चे निकले। कपोत कपोती अतिसावधानीसे प्रेमपूर्वक बच्चोंका पोषण करने लगे। उनका मधुर कलरव सुनकर दोनों बहुत आनन्द पाते। बच्चोंके लिए बहुत दूर जाकर अति स्वादिष्ट खुराक लाते और प्रेमसे उनको खिलाते।

एक दिन ऐसा हुआ, कि वे दोनों पक्षी खानेकी तलाशमें बनमें गए थे, इतनेमें एक पारधि वहाँ आया, और बच्चोंको उड़ते देख, जाल बिछाकर उनको पकड़ लिया। थोड़े समयके बाद ही कपोती वहाँ खाना लेकर आ पहुँची और अपने बच्चोंको जालमें फँसे हुए तथा चिल्लाते देखकर अत्यन्त

---

* स्थानकी कमीके कारण यहाँ बहुत थोड़े उपाख्यान तथा भक्तोंके चरित्र दे सके हैं। विशेषके लिए भागवत, महाभारत, मुस्लिम महात्मा, तथा कल्याणका संत-अंक जैसे ग्रन्थ देखिए।

दुःखी हुई और रोती-रोती बच्चोंकी ओर दौड़ी। अति स्नेहसे पागल बनी हुई वह कपोती बच्चोंको जालमें फँसे हुए देखते हुए भी खुद उसमें पड़ी और बन्ध गई। इसके बाद कपोत भी वहाँ आया। प्राणसे भी अधिक प्रिय बच्चोंको और पतिव्रता स्त्रीको जालमें फँसे हुए देखकर कपोत विलाप करने लगा कि, "हाय! मेरा सर्वनाश होगया, मेरा पुण्य समाप्त होगया, मैं पापी हूँ। मेरी तृष्णाएँ तृप्त नहीं हुई, मेरे मनोरथ पूर्ण नहीं हुए, यहाँ तो हाय रे, मेरा घर ही बिखर गया, मेरा जीवन कड़ुआ जहर होगया। अब इस श्मशान जैसे घरमें रहकर मैं क्या करूँगा? मुझे अब जीना नहीं है।"

इसप्रकार विलाप करते-करते वह कपोत दुःखसे मूढ़ बनकर जालमें फँस पड़ा, और मृत्युरूपी पारधिके आधीन होगया।

जो चंचलचित्तवाला मनुष्य कुटुम्बमें अति आसक्त है, और विवेक-बुद्धिशून्य बनकर, केवल कुटुम्बका भरणपोषण करनेमें ही रचा-पचा रहता है, वह इस कपोतकी भाँति दुःखी होता है।

यः प्राप्य मानुषं लोकं मुक्तिद्वारमपावृतम्।
गृहेषु खगवत्सक्तस्तमारूढच्युतं विदुः॥

—o—

पिंगला उपाख्यान

(भोगेच्छाका त्याग करनेसे शांति मिलती है)

आशा हि परमं दुःखं नैराश्यं परमं सुखम्॥

पुराकालमें विदेह नगरमें पिंगला नामकी एक वेश्या रहती थी। एक रातको वह पुरुषोंको मोह जालमें फँसानेके लिए शृङ्गार सजकर अपनी खिड़कीमें बैठी।

धनाढ्य लोगोंको रास्तेसे आते-जाते देखकर वह ऐसी इच्छा करती कि, "अहा! ये लोग मेरे मोहमें फँसकर मुझे अपार धन देवें तो कैसा अच्छा रहे।"

किन्तु किसीने भी उसके सामनेतक नहीं देखा। मध्यरात हुई तो भी जब उसके फँदेमें कोई फँसा नहीं, तब वह बहुत खिन्न हो गई और व्यग्रताके कारण कभी घरके अन्दर तो कभी घरके बाहर निकलने लगी।

ऐसे बिल्कुल निराश होनेसे उसकी नींद उड़ गई और आखिर उसमें सुख देनेवाला निर्वेद उत्पन्न हुआ, और अपने धन्धेका त्याग करनेका निश्चय करके वह कहने लगी :—

"अरे! मैं कैसी अविवेकी हूँ! चंचल मनके अधीन होकर मैं कैसा दुःख पाती हूँ! सत्य आनन्द देनेवाले ईश्वरका त्याग करके नीच पुरुषोंके पाससे मैं धन और सुखकी आशा रखती हूँ! पुरुषका शरीर मात्र हड्डियोंका पिंजर है और उसमें विष्ठा तथा मूत्र भरा हुआ है। उसको मेरे जैसे मूर्खके सिवाय दूसरा कौन सेवे? इसलिए अब मैं ईश्वरको ही अपना प्रियतम मानकर उसकी ही सेवा करूँगी। सर्व आशाका त्याग करके धर्मके रास्ते चलकर जो कुछ मिलेगा उसके द्वारा अपनी आजीविका चलाऊँगी और आत्मारामके साथ ही विहार करूँगी।"

—o—

कुमारी कंकण

(भक्तिलाभके लिए एकान्त-सेवनकी आवश्यकता)

वासे बहूना कलहो भवेद्वार्ता द्वयोरपि।
एक एव चरेत्तस्मात्कुमार्या इव कंकणः॥

किसी गांवमें एक गरीब गृहस्थके कुंवारी कन्या थी। एक समय

उसके मातापिता किसी कारणसे बाहरगांव गए हुए थे, उस समय उसकी शादीकी बातचीत करनेके लिए कई मनुष्य अतिथि—पाहुना रूपसे आये। घरमें चावल नहीं था, उनका सेवा-सत्कार अच्छी तरहसे हो इसकारण एकांतमें बैठकर वह कन्या धान कूटने लगी। कूटते वक्त उसके हाथमें पहनी हुई चूड़ियोंकी बहुत ही आवाज़ होने लगी, उसने सोचा कि मैं धान कूटती हूँ यह बात यदि इन अतिथियोंको मालूम हुई तो ठीक नहीं, क्योंकि उसके मांबापकी गरीबी हालत इनके जाननेमें आजायगी। ऐसा विचार करके उस बुद्धिशाली कन्याने दोनों हाथोंमें दो-दो चूड़ियाँ रखकर बाकी सब निकाल दीं। फिर कूटना शुरू किया तो दो दो चूड़ियां भी आवाज़ करने लगीं, इसलिए दोनो हाथोंमें सिर्फ एक-एक चूड़ी रहने देकर उसने धान कूटना शुरू किया। ऐसा करनेसे चूड़ियोंकी आवाज़ बन्द होगई और उसका काम आसानीसे पूरा हुआ।

इससे यह शिक्षा मिलती है कि बहुतसे एकसाथ रहनेसे कलह होती है; और दो साथ रहें तो गप्पोंमें समय जाता है, इसलिए साधकभक्तोंको कुमारी कन्याके कंकणकी तरह अकेले ही रहना चाहिए।

—०—

रंका और बंका

(तीव्र वैराग्य और निष्काम भक्ति)

रंका और उनकी स्त्री बंका पंढरपुर शहरमें रहते थे। वे नीच जातिके, अशिक्षित और अति दरिद्र होनेसे सब उनकी तरफ तिरस्कार-दृष्टिसे देखते, पर इन दोनोंमें तीव्र वैराग्य और निष्काम भक्ति होनेसे भगवान

उनपर प्रसन्न थे *। जंगलमेंसे रोज सूखी लकड़ियोंकी भारी लाकर, उसके बेचनेसे जो कुछ मिलता, उससे बहुत ही संतोष मानकर शांतिसे अपना जीवन बिताते थे। पेटका भाड़ा चुकानेके बाद बाकीका सारा समय वे ईश्वर-स्मरणमें ही बिताते थे।

पंढरपुरमें उस समय नामदेव नामके एक सिद्ध महापुरुष रहते थे। रंका और बंकाकी दु:खी अवस्था देख उनके हृदयमें दया उत्पन्न हुई, और इससे उन्होंने एक दिन इन दु:खियोंके दु:खको दूर करनेके लिए भगवानसे प्रार्थना की। दैववाणी द्वारा भगवानने उनसे कहा, "नामदेव! रंका और बंका तीव्र वैराग्यवाले हैं, वे धन नहीं लेंगे। तुम्हें देखना हो तो जिस जंगलमें वे लकड़ी काटने जाते हैं वहाँ कल जाकर इतमीनान करलेना।"

दूसरे दिन भगवानकी आज्ञानुसार नामदेवने उसी प्रकार किया। भगवानने नामदेव देखे ऐसी जगह बहुतसी सोनेकी मोहरें उस जंगलके रास्तेके बीचोंबीच डालदीं। थोड़े समय पश्चात् रंका और बंका लकड़ी काटनेके लिए उस रास्तेसे निकले, रंका आगे और बंका पीछे। रास्तेमें पड़ी हुई मोहरें देखकर रंका विचार करने लगा कि, "बंका मेरे पीछे आती है, कदाचित् वह सोनेकी मोहरें देखकर ललचा जाय तो भक्तिमें भारी विघ्न आ पड़ेगा।" इस डरसे थोड़ी धूल लेकर सोनेकी मोहरोंको उससे ढक दिया। इतनेमें तो बंका आ पहुँची। उसने पतिसे पूछा कि, "हाथमें धूलका धोवा भरकर तुम क्या करते थे?"

रंकाने सब हकीकत उसको कह सुनाई। यह बात सुनकर परम वैराग्यवती बंका खिल-खिल हँसने लगी और बोली, "सोनेकी मोहर और धूलमें क्या फर्क है? मिट्टीसे मिट्टीको ढकनेकी तकलीफ किसलिए की?"

---

*ॐ नास्ति तेषु जातिविद्यारूपकुलधनक्रियादि भेदः ॥

भक्तोंके मन जाति, विद्या, रूप, कुल, धन, क्रिया इत्यादि-जन्य भेदभाव नहीं होता। परमेश्वरके मनमें भी कोई भेदभाव, जात्यादि-जन्य, नहीं रह सकता है।

अपनी स्त्रीके ऐसे शब्द सुनकर रंकाको बहुत आनन्द हुआ और वह कहने लगा कि, "तेरे वैराग्यके सामने मेरा वैराग्य तो कुछ भी नहीं।"

नामदेवको यह देख बहुत आश्चर्य हुआ, और मनमें कहने लगे कि, "प्रभु! जिनके ऊपर तुम्हारी कृपादृष्टि होती है, वे लोग त्रैलोक्यके ऐश्वर्यसे भी नहीं ललचाते। तुम्हारे सिवाय दूसरी किसी वस्तुकी उनको इच्छा ही नहीं होती। जिन्होंने एक दफे अमृत चख लिया है क्या वे कभी गुड़ खानेकी इच्छा करते हैं?"

विशेष इतमीनान करानेके वास्ते भगवानने सूखी लकड़ियोंकी भारी रास्तेमें रखदी, ऐसी इच्छासे कि रंका तथा बंकाको लकड़ी काटनेकी तकलीफ़ न हो। पर ये लकड़ियें किसी दूसरेने काटकर यहां रक्खी होगी, ऐसा समझकर उन दोनोंमेंसे किसीने उनके हाथ तक न लगाया। आस-पास सूखी लकड़िया न मिलनेसे वे उस दिन भारी बिना ही घर लौटे, और मनमें विचार करने लगे कि, "अहो! इन सोनेकी मुद्राओंके दर्शन मात्रसे आज उपवास करनेकी नौबत आई। यदि ये मुद्राएँ लेलेते तो न जाने कैसी आफत आती!"

किन्तु भगवान ऐसा वैराग्य और ऐसी प्रेमभक्ति देखकर स्थिर कैसे रह सकते? उन्होंने प्रसन्न होकर दोनोंको दर्शन दिया।

—०—

हरिदास

(विपत्तिमें भी अडिग श्रद्धा और अपूर्व क्षमा)

बंगालके प्रतिष्ठित मुसलमान कुटुम्बमें हरिदासजीका जन्म हुआ था। उनका मूल मुसलमानी नाम कोई नहीं जानता। छोटी उम्रमें ही हरिनाम

संकीर्तन सुनकर वे एकदम आनन्दमें आजाते थे। मातापिता उनको बहुत दफे समझाते, पर वे हरिकीर्तनके प्रति अपना प्रेम छोड़ नहीं सके। उम्र ज्यादा हुई तो भी उनका स्वभाव नहीं बदला, इससे उनके माँबापने क्रोधित होकर उनको घरसे निकाल दिया। वे गाँवके बाहर जंगलमें जाकर एक गुफामें रहने लगे। इस बातकी खबर पड़नेसे उस गाँवके मुसलमान उनके पीछे पड़ गए, और अनेक तरहसे उनको हैरान करने लगे, पर हरिदासजीकी प्रभुश्रद्धा दिन-दिन बढ़ने लगी। उस गाँवके जमींदारको उकसाकर उन लोगोंने हरिदासजीको फँसानेके लिए रात्रिके समय एक सुन्दर वेश्याको भेजा। हरिदासजीके पास जाकर वह वेश्या अनेक प्रकारके हावभाव दिखाने लगी और उनके साथ बातचीत करनेके लिए प्रयत्न करने लगी। हरिदासजीने कहा कि, "बाई! जरा ठहरो। मेरे नियमानुसार जप पूरा करनेके पश्चात् मैं तुम्हारे साथ बातचीत करूँगा।" उस समयमें वे प्रत्येक रात्रिको इष्ट मंत्रका तीन लाख बार जप किया करते थे, इससे जप पूरा होनेसे पहले तो सवेरा होगया और वेश्या उदास-चित्त वहाँसे लौट गई। इसी प्रकार लगातार तीन रात तक हुआ। तीसरी रातको हरिदास-जी प्रभु नाम जपते-जपते जोरसे 'हरि हरि' शब्दोच्चार करने लगे और वेश्या भी अनजाने साथ-साथ हरिनाम बोलने लगी। इससे उसके चित्तपर जबरदस्त असर हुआ और वह विचारने लगी कि, "अरे! दुष्ट-वासना पूरी करनेके लिए मेरे पास हजारों आदमी आते हैं, पर इनको तो इस बातका ख्याल तक नहीं। अहा! हरिनाममें कितना ज्यादा रस होगा, कि उसमें ही इस भक्तका चित्त आठों पहर लगा रहता है।"

ऐसे विचारोंसे उस वेश्याका अंतःकरण शुद्ध होगया, और हरिदासजी-के चरणोंमें पड़कर उसने अपने अपराधके लिये माफी माँगी। हरिदासजीने प्रसन्न होकर उसको मंत्रदीक्षा देकर उपदेश किया कि, "अबतककी तेरी पापकर्मोंकी कमाई किसी अच्छे काममें लगादे, और बाकीका जीवन प्रभुभजनमें बिता। ऐसा करनेसे तेरा कल्याण होगा।"

इस युक्तिमें असफल होनेसे वे मुसलमान उस गाँवके काजीके पास गए और हरिदासने मुसलमान होनेपर भी हिन्दुधर्मको स्वीकार किया है, इसलिए उसको दंड मिलना चाहिए, ऐसी फरियाद करने लगे। उस धर्मांध काजीने हरिदासजीको पकड़कर जेलमें धर दिया, परन्तु जेलमें भी उनकी वही धुन ! इसके बाद काजीने कायदेके मुताबिक दंड देनेके लिए उनको अपने सामने बुलाया और मुसलमान होने पर भी काफिरका धर्म किसलिए स्वीकार किया है ? ऐसा प्रश्न पूछा। इसके उत्तरमें हरिदासजी-ने कहा कि, "ईश्वर एक, अखंड और अव्यय है हिंदु तथा मुसलमानके ईश्वर अलग-अलग नहीं हैं। भिन्न-भिन्न नामसे मनुष्य उनको ही पुकारते हैं। भगवान कृपा करके जिसको जैसी प्रेरणा करते हैं, उसी अनुसार वह कार्य करता है। हिन्दु होने पर भी बहुतसे मुसलमान हो जाते हैं। वैसे ही मैं मुसलमान होने पर भी हिन्दु होगया इसमें क्या बिगड़ गया ?

हरिदासजीका उत्तर सुनकर काजीको संतोष हुआ, पर दूसरे धर्मांध मुसलमानोंको शांत करनेके लिए उसने उनको सजा दी, कि बाईस अलग-अलग बाजारोंमें लेजाकर इसके कोड़े लगावो।

आज्ञानुसार प्रत्येक बाजारमें लेजाकर सिपाही उनके कोड़े मारने लगे। ऐसी सख्त मारसे उनके शरीरमेंसे रक्तकी धाराएँ चलने लगी तथा सारे शरीरसे माँसके लोथडे उतरने लगे, पर हरिदासजीने हरिनाम नहीं छोड़ा। उनका ऐसा हाल देखकर लोगोंको बहुत दुःख हुआ। हरिदासजी अन्तमें बेहोश होकर ज़मीनपर गिर गए और उनको मरा हुआ समझकर सिपाहियोंने नदीमें फेंक दिया। थोड़ी देर पानीमें रहनेके बाद हरिदासजीको होश हुआ, और नदीमेंसे बाहर निकलकर वे फिर काजीके पास गए। उनको देखकर काजीको बहुत ही आश्चर्य हुआ और सचमुचमें महापुरुष समझकर काजीने उनसे माफी माँगी, पर हरिदासजीने तो उनसे कहा कि, "मैंने तो पहलेसे ही तुम्हारे लिए प्रभुके पाससे माफी माँग ली है, क्योंकि अज्ञानके कारण ही तुमने यह काम किया था।"

इसके बाद हरिदासजी नवद्वीपमें जाकर भगवान चैतन्यसे मिले और उनके साथ बहुत समयतक रहे। अन्तमें जगन्नाथपुरी जाकर उन्होंने समाधिमें वहीं शरीर छोड़ा।

—o—

तिरूप्पन आलवार

(यथार्थ भक्त भगवान स्वरूप ही है)*

दक्षिण भारतमें उराउर गाँवमें तिरूप्पन आलवारका जन्म हुआ था। वे जातिके चंडाल थे, पर सर्वदा बीन लेकरके प्रभु कीर्तन किया करते थे। कभी-कभी तो इतने गहरे भावमें निमग्न हो जाते, कि दूसरा कुछ भी भान नहीं रहता। एक दिन ऐसी ही अवस्थामें श्रीरंगनाथस्वामीके मंदिरको जानेवाले रास्तेके सामने, कावेरी नदीके किनारेपर वे बैठे थे, इतनेमें उस मन्दिरका मुनि नामका पुजारी मूर्त्तिकी पूजा करनेके लिए उस नदीमेंसे पानी भरकर वापस जाने लगा। तिरूप्पनको रास्तेमें बैठा हुआ देखकर उसने कई बार हट जानेको कहा; पर वे तो भावमग्न थे इसलिए उनको कुछ भी सुनाई नहीं दिया। उनको जाग्रत करनेके लिए पुजारीने एक बड़ा पत्थर लेकर उनपर फेंका। उसके लगनेसे उनको थोड़ा भान हुआ, और पुजारीके पाससे माफी माँगकर धीरे-धीरे वे वहासे चले गए। मंदिरमें आकर पुजारी देखता है तो दरवाजा अन्दरसे बन्द। कोई अन्दर होगा ऐसा समझकर पुजारी दरवाजा खुलानेके लिए जोरसे पुकारने लगा। मदिरके सब पुजारी इकट्ठे हो गए पर दरवाजा नहीं खुला। प्रभुको स्नान

---

*आनिन्द्योन्यधिक्रियते पारंपर्यात् सामान्यवत् ॥

(शांडिल्य)

करानेका समय भी जाने लगा; अब मुनिको विचार हुआ कि उसके किसी महान अपराधके कारण ही भगवान उसपर नाराज हुए हैं। वह रोते-रोते कहने लगा, "प्रभु! मैंने किस अपराधके लिए आप क्रोधित हुए हैं? मुझे गलतीके लिए क्षमा करो।"

बहुत समय तक उसने प्रार्थना की, तब उसके सुननेमें ऐसी वाणी आई कि, "मुनि! आज तूने मुझे पत्थरसे मारा है, इसलिए मैं तुझे अपने पास नहीं आने दूँगा।"

मुनिने आश्चर्यके साथ पूछा:—"प्रभु! मैंने आपके पत्थर कब मारा? मुझे तो कुछ याद नहीं आता।"

प्रभुने जवाब दिया:—"कावेरी नदीके किनारे जो महापुरुष ध्यानमें बैठा था, वह मेरी दूसरी मूर्त्तिरूप है। तूने उसके पत्थर मारा है सो मुझे ही लगा है। तू उसको कँधेपर बैठाकर सात दफे मेरे मंदिरकी प्रदक्षिणा करेगा, तब ही मैं तुझे क्षमा करूँगा।"

ऐसी वाणी सुनकर मुनि एकदम कावेरी नदीकी ओर दौड़ा, और तिरुप्पनको देखकर भक्तिपूर्वक नम्रभावसे उसकी ओर जाने लगा; पर तिरुप्पन तो उसको देखकर दूर भागने लगा, और कहने लगा कि, "मैं हीन चंडाल जातिका हूँ, मेरे अपराधके लिए फिर मारना हो तो दूर रहकर पत्थरसे मारो, आप पवित्र हो इसलिए मुझे छूना नहीं।"

परंतु इतनेमें तो मुनिने जाकर उनके पैर पकड़ लिए और चरणोंमें सिर झुकाया, और उनको कँधेपर बैठाकर मंदिरमें जा सात बार प्रदक्षिणा की! इसके बाद मंदिरके द्वार अपनेआप खुल गए। तिरुप्पन आलवारको सबलोग भगवानकी दूसरी मूर्त्ति समझकर वंदना करने लगे, और उसदिनसे वे मुनिवाहन नामसे प्रख्यात हुए।

—०—

महात्मा आविसकरणी

महात्मा आविस, करण नामक देशमें निवास करते थे, इसीसे उनका नाम आविसकरणी पड़ा था। उनको एकांतवास बहुत प्रिय था, इसलिए वे लोगोंके सहवाससे दूर रहते थे। उनके कुटुम्बीजनोंमें सिर्फ एक उनकी माताजी जीवित थीं, और वे आँखोंसे अन्धी थीं।

आविसकरणी ऊँट चरानेका धन्धा करके अपना तथा माताका भरणपोषण करते थे। हजरत मोहम्मद पैगम्बर साहेबके साथ उनकी भेंट नहीं हुई थी, पर दोनोंके बीच समानता होनेसे एक दूसरेकी परस्पर बहुत प्रीति थी।

जब पैगम्बर साहेबके परलोक जानेका समय आया, तब शिष्योंने उनको पूछा कि —आपके पवित्र वैराग्य वस्त्रोंका अधिकारी कौन होगा ?"

पैगम्बर साहेबने इन वस्त्रोंको आविसकरणीको देनेके लिए कहा।

हजरत मोहम्मद साहेबके परलोकगमनके बाद उम्मर और अली आविसकरणीको ढूँढने निकले। कुफा शहरमें आकर, नमाजके वक्त उन्होंने लोगोंसे पूछा :—"तुममेसे कोई करणका रहनेवाला है ? यदि कोई है, तो महात्मा आविसकरणीके विषयमें कुछ जानता है ?"

उनमेंसे एक-दोने जवाब दिया कि, "हाँ, हम करणके रहनेवाले हैं, हम सब उसको पागल गिनते हैं, वह सरणाके वनमें ऊँट चराता होगा।"

यह सुनकर उम्मर और अली वहाँसे चल निकले, और सरणाके जंगलमें पहुँचे। वहां जाकर देखा तो आविस नमाज पढ़ते थे। नमाज पूरी होनेके बाद उन्होंने दोनों महात्माओंको नमस्कार किया। उम्मर और अली ने भी वापस नमस्कार करके उनका नाम पूछा। उन्होंने कहा कि, "मेरा नाम अब्दुल्ला यानी परमात्माका गुलाम है।"

उम्मरने कहा, "अपना यथार्थ नाम बताओ, क्योंकि परमेश्वरके गुलाम तो हम सब ही हैं।"

तब उन्होंने जवाब दिया कि मेरा नाम आविस है।

उम्मरने कहा :—"तो कृपा करके अपना दाहिना हाथ दिखाओगे?"

उनका हाथ देखनेपर पैगम्बर साहेबके कहे अनुसार सब चिन्ह दिखाई दिए। तब तुरन्त ही उस हाथको चूमकर उम्मरने कहा कि, "महात्मा! पैगम्बर मोहम्मद साहेबने आपको सलाम कहलाई है, तथा अपने ये वैराग्यवस्त्र आपको भिजवाये हैं, और अपने संप्रदायको आशीर्वाद देनेके लिए आपसे आग्रह किया है।"

आविसने जवाब दिया कि आशीर्वाद देनेका अधिकार तो आपको ही है। पर उम्मरने जब उनको पैगम्बर साहेबका मान रखनेके लिए आशीर्वाद देनेको कहा, तब उन्होंने जवाब दिया कि, "भाई उम्मर! मुझे तो ऐसा मालूम होता है कि यह आविस कोई दूसरा होना चाहिए।"

उम्मरने जवाब दिया :—"पैगम्बर साहेबने जिन-जिन चिन्होंकी बात की थी वे सब तुम्हारे शरीर पर हैं, इसलिए तुम्हीं वह आविस हो।"

उस महात्माने उम्मरको वस्त्र बतानेके लिए कहा। तब उम्मरने वे वस्त्र उनको दिए। वस्त्र देखकर आविसने खुदासे प्रार्थना की कि,—"खुदा! जबतक तमाम इस्लामी बिरादर ये वस्त्र मुझे नहीं देवें, तबतक इनको मैं काममें कैसे ला सकता हूँ? उम्मर और अलीने तो अपना फर्ज अदा किया है, पर हे परवरदिगार! आप अपनी आज्ञा फरमावो।"

थोड़ी देर बातचीत होनेके बाद उम्मरने पूछा कि, "महात्मा आविस! आपने कभी पैगम्बर साहेबके दर्शन क्यों नहीं किए?"

आविसने वापस पूछा कि, "क्या आपने उनके दर्शन किए हैं?"

उम्मरने हां कहा, तब आविसने कहा कि, "मुझे तो ऐसा मालूम

होता है कि, आपने तो उनके पहने हुए वस्त्रोंके ही दर्शन किये होंगे। बताओ देखें उनकी भौंहें जुड़ी हुई थीं या अलग अलग ?"

उम्मर ठीक ठीक उत्तर न दे सका। इसके बाद आविसने कहा कि, "मैंने सुना है कि आप हजरत साहेबके परममित्र थे।"

उम्मरने कहा हाँ, तब आविसने पूछा, "आप उनके मित्र थे, तो जिसदिन शत्रुने पैगम्बर साहेबके दाँत तोड़ दिए थे, उसदिन आपने भी अपने दाँत क्यों नहीं तोड़ डाले ?"

इतना कहकर आविसने अपना मुँह खोला तो उसके अन्दरके सब दाँत गिरे हुए थे। फिर उन्होंने कहा कि, "पैगम्बर साहेबका दर्शन मैंने नहीं किया यह बात सच है, पर जब मैंने सुना, कि शत्रुने पैगम्बर साहेबके दाँत तोड़ दिए हैं, तब मैंने अपने सब दाँत एक एक करके उखाड़ दिए।"

यह बात सुनकर उम्मरको विश्वास हुआ, कि आविस प्रभुके सच्चे भक्त और पैगम्बर साहेबके यथार्थ मित्र हैं। फिर उम्मरने कहा, "आविस! आप हमारे लिए खुदाकी बन्दगी करो।"

आविसने जवाब दिया, "विश्वास और प्रेम भिन्न-भिन्न वस्तुएं हैं। अकेला विश्वास यह कोई प्रेम नहीं है, तो भी मैं हरेक नमाजके समय प्रभुके पाससे माँगता हूँ, कि ओ खुदा! विश्वासी स्त्री पुरुषोंके गुनाह माफ करना।"

उम्मरके कुछ उपदेश सुननेकी इच्छा प्रकट करनेपर आविसने कहा, "उम्मर! प्रभुको तो पहचानते हो ना ?"

उम्मरने जवाब दिया, 'हाँ।"

आविसने कहा, "तो फिर अब तुम दूसरा कुछ न जानो तो भी कोई नुकसान नहीं।"

उम्मरके और उपदेशकी माँग करनेपर महात्मा आविसने कहा, "उम्मर ! ईश्वर तुमको पहचानता है ?"

उम्मरके हाँ कहनेपर आविसने कहा, "तब तुमको दूसरा कोई न जाने तो फिक्र नहीं।"

उम्मर कुछ भेंट करनेकी इच्छासे अपनी गठरी छोड़ने लगा, तब उसको रोककर आविस बोला, "यह कष्ट न करें। मेरे पास दो पैसे हैं, जो मुझे ऊँट चरानेसे मिले हैं। जबतक ये ख़र्च नहीं होंगे, तबतक मुझे ज्यादाकी ज़रूरत नहीं।"

यहाँ आनेमें तकलीफ उठाई जिसके लिए उम्मरका आभार मानकर वे बोले, "उम्मर अब वापस पधारो, कयामतके दिन हम फिर निश्चिन्त होकर मिलेंगे। अभी तो परलोकके लिए कुछ करनेको कमर कसनी चाहिए।"

इतना कहकर उन्होंने इन दोनोंको विदा किया।

इस प्रसंगके बाद हरमानके पुत्र हयानके सिवाय और किसीने उनको देखा नहीं था। हयान कहता है कि, "इन महात्माकी हक़ीक़त सुनकर इनसे मिलनेके लिए मैं अति व्याकुल हो गया, और बहुत तलाशके बाद एकदिन मैंने उनको फुरात नदीमें हाथ मुँह धोते देखा। उनकी गरीब हालत देखकर मेरा मन पिघल गया और आँखोंमें आँसू भर आए। यह देखकर आविस भी रोकर कहने लगे :—"ओ हयान ! खुदा तुम्हें चिरंजीवी करे। तुम्हें मेरा पता किसने दिया ?"

मैंने कहा, कि आपने मुझे किसतरह पहचान लिया ? मैं तो आपसे आगे कभी नहीं मिला।

उन्होंने जवाब दिया कि, "जिससे कुछ भी अनजाना नहीं उस खुदाने मुझे तुम्हारी पहचान बताई है, आत्माने आत्माको पहचाना है।"

मैंने कहा :—"मुझे हजरत मोहम्मद पैगम्बर साहेबकी हकीकत सुनावो और कुछ उपदेश दो।"

उन्होंने जवाब दिया कि, हजरत साहेबसे मिलनेका सौभाग्य मुझे नहीं मिला। मैंने तो सिर्फ दूसरोंके मुँहसे उनके विषयमे बातें सुनी हैं। फिर मैंने कभी उपदेशक बननेकी इच्छा की ही नहीं, इसलिए तुम्हें मैं क्या उपदेश दूँ ?"

मैंने कहा :—"खुदाकी वाणी तो सुनाओ, आपके मुँहसे सुननेसे मुझे अपार लाभ होगा।"

उन्होंने कहा कि, "शैतानको छोड़कर खुदाका आसरा लो।" इतना कहते कहते उनकी आँखोंमेंसे आँसूकी धार बह चली। फिर वे बोले कि, "खुदा कहते हैं कि मनुष्य जाति तथा देव वगैरहको मैंने अपनी उपासना करनेके लिए ही पैदा किया है, यह सब केवल विनोदके लिए नहीं रचा है।" इतना कहते कहते वे, "हे परवरदिगार ! हे अल्लाह !" ऐसा कहकर बेहोश होकर ज़मीनपर गिर पड़े।

थोड़ी देरमें स्वस्थ होकर उन्होंने पूछा कि, "हयान ! तू यहाँ क्यों आया है ?"

मैंने कहा कि आपका स्नेह पाकर सुखी होनेकी आशासे आपके पास आया हूँ।

आविसने कहा :—"मैं कोई बड़ा आदमी नहीं हूँ, फिर जो मनुष्य ईश्वरको छोड़ दूसरेके साथ स्नेह जोड़नेकी इच्छा करता है, वह क्या कभी सुखी हो सकता है ?"

तब मैंने कहा, कि मुझे कुछ उपदेश तो दो। आविस बोले :—"जब सोओ तब मौतको सिरपर बैठो समझो, और जागो तब मौतको सामने

खदी समझो। छोटेसे छोटा अपराध करते हुए भी ईश्वरसे डरो; यदि पापको तुच्छ मानोगे तो प्रभुको भी तुच्छ मानोगे।"

मैंने पूछा, "अब मुझे किस देशमें रहना चाहिए?" उन्होंने मुझे शाम देशमें रहनेको कहा, इसपर मैंने पूछा कि, "वहाँ मेरा निर्वाह किस तरह चलेगा?"

यह सुनकर वे बोले कि, "जिसके हृदयमें उदर भरनेके लिए प्रबल चिंता होती है, वह मनुष्य ईश्वरके मार्गका उपदेश ग्रहण नहीं कर सकता। ऐसे मनुष्यके लिए दुःख ही रक्खा है। हे हरमान पुत्र! तेरा पिता गुजर गया है, आदम वगैरह बड़े-बड़े पुरुष यह लोक छोड़ गए हैं; हजरत मोहम्मद साहेब भी थोड़े समय पहले ही गए हैं। भाई! हम सब ही मरनेको हैं, इसलिए बहुत ही सँभलकर पग धरना।"

फिर मुझे आशीर्वाद देकर वे बोले कि, भाई! तू ईश्वरके ग्रन्थकी आज्ञा मानना और साधु पुरुषोंके आचरण किए हुए मार्गका अनुसरण करना। एक पल भी मौतको मत भूलना। दूसरोंको भी ऐसा उपदेश देना। इतना कहकर मुझे विदाकर आप चले गए और फिर मुझे उनकी कुछ खबर नहीं मिली।

रबिया उनके संबंधमें कहती है कि, "एक दिन आविसको मैंने नमाज पढ़ते देखा। नमाज पढ़नेके बाद तुरन्त ही वे खुदाके नामका जप करने लगे और इस तरह उन्होंने तीन दिन और तीन रात खाये-पिये बिना नमाज और नामजपमें बिताए। चौथी रातको आँखमें ज़रा ऊँघ आने लगी तब एकदम खड़े होगए और बोलने लगे, "ओ खुदा! यह मेरी तंद्रा भरी हुई आँख और भूखा पेट मुझे बहुत हैरान करते हैं, इनसे छुटकारेके लिए मैं तेरा आश्रय मांगता हूँ।"

इसके बाद मेरे सुननेमें आया, कि वे रातको कभी सोते नहीं थे।

सारी रात नमाज और जपमें ही बिताते थे। इसी बीचमें किसीने उनसे पूछा कि, "आविस! तुम्हारी उपासना किस तरह चलती है?"

तब उन्होंने जवाब दिया कि, "मेरे मनको संतोष हो ऐसी तो नहीं है, और इसलिए मैं प्रभुके पाससे ऐसे माँगता हूँ कि, हे मेरे पवित्र प्रभु! तू सबसे श्रेष्ठ है, ऐसा कहते कहते ही सवेरा हो जाय, पर वैसा नहीं होता इसलिए मुझे असंतोष रहा करता है।"

एक समय दूसरे किसीने उनको पूछा कि, "महात्मा! मनुष्य उपासनामें मग्न है, यह किस तरह मालूम पड़े?"

उन्होंने जवाब दिया, "यदि लाठी मारनेपर भी उसका ध्यान भंग न हो तो जानना चाहिए कि सचमुच वह उपासनामें तल्लीन है।"

शुरूमें कहा है जैसे, उनके पड़ोसी तो उनको पागल ही मानते थे और जब वे बाहर निकलते तब लड़के उनके आगे पीछे दौड़ते और, "यह पागल आया, यह पागल आया," ऐसा कहकर उनको पत्थर मारते।

ये महात्मा ज़रा भी क्रोधित हुए बिना उन छोकरोंको हँसकर कहते कि, "भाइयों, तुमको पत्थर मारनेमें मजा आता हो तो खुशीसे मारो, पर ज़रा छोटे-छोटे मारो कि जिससे लोहू न निकले। लोहू निकलेगा तो अपवित्र होजानेसे मैं नमाज नहीं पढ़ सकूँगा।"

इससे समझमें आता है कि अपने शरीरके लिए भी उनको ज़रासी भी चिन्ता नहीं थी। खुदाकी बन्दगी ही उनके मनमें जिन्दगीका श्रेष्ठ काम था।

महात्मा आविसके बोधवचन

१. जिन मनुष्योंको नीचे बताई हुई तीन वस्तुओंपर प्रीति होती है, उनके और नरकके बीच ज्यादा अन्तर नहीं है :—(१) अच्छे-अच्छे भोजन, (२) सुन्दर वस्त्र, (३) धनवानोंका सहवास।

२. जिसने ईश्वरका साक्षात्कार किया है, उसने जानने योग्य सबकुछ जान लिया है।

३. उन्नति साधनी हो उसको विनयी बनना चाहिए, पुरुषार्थ प्राप्त करना हो उसको सच्चा होना चाहिए, गौरव प्राप्त करना हो उसको ईश्वरसे डरना चाहिए, बड़ा होना हो उसको धैर्यवान होना चाहिए, शांति प्राप्त करनी हो उसको वैराग्यवान बनना चाहिए, और संपत्तिकी इच्छा हो उसको श्रीमन्तका आश्रय लेना चाहिए।

— ०—

असाधुमेंसे साधु

महत्कृपयैव भगवत्कृपा लेशाद्वा

भगवानकी कृपा कब, कैसे होगी, यह मनुष्य-बुद्धिसे जाना नहीं जा सकता। आज असाधु दिखाई देनेवाला मनुष्य परमेश्वरकी कृपासे कल पवित्रात्मा बनजाता है। ऐसे बहुतसे दृष्टान्त भक्तिग्रन्थोंमे देखनेमें आते हैं। भक्तमालमें इस विषयका एक सुन्दर उदाहरण है।

एक राजाका भंगी रातको चोरी करनेके लिए उसके महलमें गया। जिस समय राजाके शयनगृहके पास वह मौका देख रहा था, उस समय रानीने राजासे कहा कि, "अपनी बड़ी कन्याकी अब शादी करनी चाहिए।"

राजाने जवाब दिया कि योग्य वर न मिले तब तक क्या हो?

रानीने हठ किया, कि तुम अब जल्दी उसका विवाह कर डालो।

अन्तमें राजाने जवाब दिया कि, "कल प्रातःकाल तपोवनमें जाते समय जिस योगीके साथ मेरी पहली भेंट होगी, उसीके साथ मैं कन्याका विवाह करदूँगा, और उसको मेरे आधे राज्यका मालिक बनाऊँगा।"

चोर भंगीने यह बात सुनकर ऐसा विचार किया कि, "यह चोरीका काम खतरनाक है, क्योंकि पकड़े जाँय तो मरना पड़े; इससे तो यह जोग

बहुत आसान है। योगीका वेश बनाकर तपोवनके रास्तेपर समाधि लगाकर बैठ जाऊँ, तो अनायास ही राजकन्या और आधा राज्य मिल जायगा। ऐसा करनेसे मेरी सारी मुसीबतोंका अन्त हो जायगा।''

फिर वह चोरी करे विना ही वापस चला गया। और योगीका वेश धरकर तपोवनके रास्तेपर जा बैठा।

राजा भी प्रातःकाल अपने निश्चयानुसार तलाश करने तपोवनके रास्ते निकला, और उसने उसको ध्यानमें बैठा देखा। राजाने उसको परम योगी जानकर साष्टांग प्रणाम किया और ध्यान पूरा हो तबतक बाट देखते वहीं बैठा। बहुत देरसे वह कपटी साधु ध्यानमेंसे उठा। राजाने उसके पाँवोंमें पड़कर महलमें पधारनेकी विनति की। उसकी विनति स्वीकार करके वह राजाके महलमें गया। राजाने उसको अपने सिंहासनपर बैठाया और पैर धोकर चरणामृत लिया, रानी उसको चँवर डुलाने लगी, और दूसरे नौकर भी उसका अनेक प्रकारसे आदर सत्कार करने लगे। फिर राजाने अपनी कन्या और आधा राज्य स्वीकार करनेके लिए विनति की। यह सब देखकर उस ढोंगी भगीके मनमें एकाएक परिवर्तन होगया, और वह विचार करने लगा कि, ''केवल जोगीका वेश धारण करनेसे ऐसे महान राज्यके मालिक— ये राजा रानी मेरे पाँवों पड़ते हैं और राजकन्या तथा आधा राज्य स्वीकार करनेके लिए मुझसे प्रार्थना करते हैं, तो यदि मैं सच्चा योगी बनूँ तो मेरी स्थिति कितनी ऊँची हो जाय।''

ऐसे विचारोंसे सांसारिक विषय-सुख भोगनेके बदले प्रकृत त्यागीका जीवन बितानेकी प्रबल इच्छाका उसमें उदय हुआ, और आँखमें अश्रु भरकर सिंहासनपरसे खड़ा हो, भगवानका नाम लेता-लेता वह जगलमें चला गया। अहो! भगवत्कृपाका कैसा प्रभाव! दुष्ट बुद्धिका नाश होकर उसके हृदयमें शुद्धभावका संचार हुआ, तथा वह सच्चा भक्त बनकर कृतकृत्य हुआ।

उपनिषद्में भी कहा है कि :—

यमेवैष वृणुते तेन लभ्यस्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनुं स्वाम् ॥

जिसके ऊपर आत्माकी अर्थात् अन्तर्यामीकी कृपा होती है, वही उसको प्राप्त करता है और आत्मा उसीके पास अपना रूप प्रकाशित करता है।

—०—

लाला भगत

लाला भगतका नाम सारे गुजरात तथा काठियावाड़में सुप्रसिद्ध है। इनके लम्बे अरसेतक रहनेसे पवित्र हुआ काठियावाड़के एक कोनेमें आया हुआ सायला नामका गाँव, अब भी 'भगतका गाँव' नामसे पहचाना जाता है।

इस महात्माका जन्म संस्थान वांकानेरके अन्तर्गत सिंधावदर नामके गाँवमें संवत् १८५६ की चैत्र सुद नवमी अर्थात् रामनवमीके पवित्र दिन हुआ था। ऐसे मांगलिक दिनमें जन्म लेनेवाला महापुरुष भक्तश्रेष्ठ हनुमान जैसाही तीव्र वैराग्यवान, और अखण्ड ब्रह्मचर्यव्रतधारी तथा भगवान श्रीरामचन्द्रमें अनन्य श्रद्धावान और भक्तिभाववाला हो तो इसमें कुछ आश्चर्य नहीं।

इनके पिताका नाम कुटोशा और माताका नाम वीरबाई था, जातिके दशाश्रीमाली वणिक थे।

बचपनसे ही अन्य भक्तोंकी तरह इनका मन भी प्रभुसेवामें तल्लीन रहता था, इनका खेलना-कूदना भी ऐसे ही प्रकारका होता था। प्रभुकी मूर्ति पधराकर, उसको अपने पास जो कुछ खानेको होता उसका भोग धरकर, आरती उतारकर भक्तिभावमें तल्लीन हो घटे-के-घटे भावमग्न बैठे रहते; ऐसी स्थितिमें इनकी आंखोंमेंसे अविरत अश्रुप्रवाह बहा करता, जिसको देखकर इनके माता-पिता आश्चर्यमुग्ध होते थे।

योग्य उम्र होनेपर इनके पिताने इनको गाँवकी पाठशालामें पढ़नेके लिए भेजा, जहाँ इन्होंने साधारण लिखना-पढ़ना तथा व्यापारके उपयोगमें

आवे जैसा हिसाब-किताब सीखा।

समयके साथ साथ भक्तबालक युवा हो गये, पर उनकी भजन-कीर्तनकी धुन तो वैसीकी वैसी ही रही। अब उनके माता-पिताको डर लगने लगा, कि कदाचित् पुत्र संसारमें न रहकर केवल प्रभुपरायण जीवन बितावे। इस डरके कारण वे उनको सांसारिक बंधनोंमें जकड़ लेनेका प्रयत्न करने लगे। उनके पिताने, अपने धन्धेमें जोड़कर तथा स्त्रीरूपी जंजीरसे जकड़कर, उनको सिकंजेमें लेनेका वृथा प्रयास किया। लालाजी भक्तने विवाह करनेकी तो बिलकुल नाहीं करदी, पर दुकानमें कामकाज करने लगे। जब-जब पिताजी उनके व्यवहारिक अकुशलताके लिए बुराभला कहते, तब-तब वे नाराज न होकर नम्रतासे पिताको प्रभुमें अडिग श्रद्धा, सांसारिक विषयोंकी असारता वगैरहकी बाबत उपदेश देते, और मायाकी दलाली छोड़नेके लिए समझाते :—

कवित

तातकु कहत लाल, सुनो मेरी बात यह,
संतनकी सेवा यह तो, मेरे मन भाई है,
काहेने दलाली इस मायाकी पकड़ लई,
मोही तो दलाली चित्त, लालनके पाई है,
संत मेरे मात तात, भ्रात, कुल, नात जात,
संतनकी सेवा यह तो श्रीमुखसे सुनाई है,
कहत गोपाललाल, तातकु कहत ऐसे,
संतनकी सेवा बिन, कौन गति पाई है।

लाला भगत वांकानेर जानेको हुए तब उन्होंने श्रीरघुनाथजीके मंदिरके साधु सेवादासजीके पाससे आध्यात्मिक ज्ञानका उपदेश लिया, और खुले तौरसे जैन संप्रदायको छोड़कर रामानंदी संप्रदायकी दीक्षा ली।

पिता हमेशा उनपर गुस्से तो रहते ही थे, अब इस बनावसे और ज्यादा हुए, पिताकी कड़वी वाणी सुनकर उन्होंने कह दिया, कि प्रभुभक्ति

भुलाकर मुझे प्रपंचमें पड़नेके लिए कहोगे, की अथवा मेरे इष्टदेवकी निन्दा करोगे तो घर छोड़कर चला जाऊँगा।

ऐसे महात्माको कपड़ेकी दुकान बैठकर लेनदेन करना कैसे आये? जिनका मन प्रभुप्रेममें ही मस्त रहता हो वे अन्य नफे नुकसानका हिसाब कैसे समझें? किसी दुःखी दरिद्रीके आते ही वे तो दूसरे सब काम छोड़कर उसकी सेवामें लग जाते। दुकानमेंसे पैसे, वस्त्र आदि देकर अभ्यागतोंको संतोष देते, और सच्ची कमाई की है, ऐसा समझकर पूरा सतोष पाते।

ऐसा कहते हैं, कि इस अरसेमें भक्ताधीन प्रभुने उनकी बहुत दफे सहायता की। दूसरोंके सिखानेसे भक्तराजके पिता अनेक बार दुकान आकर मालकी तथा बिक्रीकी जांच करते, पर उनको कुछ भी त्रुटि नहीं मालूम होती।

धीरे-धीरे भक्तकी अनन्य भक्तिकी बात आसपास फैलने लगी। वांकानेरके उस समयके राजा साहबने मान देकर उनको बुलाया और परोपकारके लिये बहुतसी जमीन भेंटकी, तथा सिंधावदरमें एक मन्दिर भी बनवाया। तबसे भक्त सारा संसार छोड़कर उस मंदिरमें ही रहने लगे।

सिंधावदरमें मन्दिर बनवानेके बाद अनेक साधु-सत वहां आने लगे, जिनका भगतजी पूर्ण प्रेमसे सत्कार करने लगे। थोड़े समयके बाद उन्होंने सायलामें एक भव्य मन्दिर बनवाया और तबसे वहीं रहने लगे। उनकी परोपकार वृत्ति देखकर अनेक भाविक पुरुषोंकी तरफसे उनको बहुतसा धन मिलने लगा। भिन्न-भिन्न स्थानोंमें मन्दिर बनवानेमें, तथा सदाव्रत चालू करनेमें ही भक्तराज इस धनका उपयोग करने लगे। भविष्य-में परमार्थके लिए मिले हुए धनका दुरुपयोग न हो, इसके लिए उन्होंने योग्य इन्तजाम किया, जिसके परिणामस्वरूप आजकल भी लगभग ३६० स्थानोंपर उनकी तरफसे स्थापित किये हुए सदाव्रत तथा मन्दिर सुव्यवस्थित रूपसे चल रहे हैं।

उनकी ख्याति सुनकर उस समयके बड़ौदाके महाराजा साहबने भी

उनकी पधरावनी कराई थी, और डंका, निशान, छड़ी इत्यादि मानसूचक चिह्न राज्यकी तरफसे अर्पण किए थे।

—०—

असीसीके संत फ्रान्सिस

इस आदर्श ईसाई संतका जन्म ई० स० ११८१ के लगभग हुआ था। ऐसा कहते हैं, कि किशोर तथा युवावस्थामें उसका स्वभाव बहुत ही उद्धत तथा विलासप्रिय था। खाना पीना, मौज मजा करना ही उसके जीवनका आदर्श था। रंगरागमें मस्त होकर युवा फ्रान्सिस जीवन बिताता था, इसी बीच एक दफे उसको सख्त बुखार आया। इस बुखारने थोड़े ही समयमें ऐसा गंभीर स्वरूप धारण किया, कि सबने उसके बचनेकी आशा छोड़ दी। ऐसी अवस्थामें उसकी बुद्धिमें अजीब परिवर्तन हुआ, अपने पहलेके दुष्ट जीवनपर उसको सच्चे अंत.करणसे पश्चात्ताप हुआ, "यदि इस बीमारीमेंसे ठीक हो जाऊँगा तो शुद्ध सात्त्विकजीवन बिताना प्रारम्भ करूँगा" ऐसा दृढ़ संकल्प उसने कर लिया। इस बीमारीको उसने प्रभुकी कृपा मान ली, क्योंकि इससे उसका मन निर्मल बन गया था। विचार करनेसे उसको यह भी समझमें आया, कि गरीबी भी सचमुच ईश्वरकी दयाकी निशानी है, क्योंकि इसके कारण बहुतसे अनिष्टोंमेंसे बचाव हो जाता है। इसके साथ उसने तपद्वारा मन तथा शरीरको कसनेका निश्चय भी किया।

इस भयंकर बीमारीमेंसे अच्छे होनेके बाद तुरन्त ही इस इच्छासे उसने घर त्याग दिया। रास्तेमें भिक्षुकोंकी जमात मिली जिनको अपने कीमती कपड़े-लत्ते दे दिये, और खुद उनके फटे पुराने कपड़े पहनकर आगे चल निकला। खानेपीनेमें वह बिलकुल बेपरवाह रहने लगा, जिससे शरीर एकदम सूख गया और उसके ऊपर मैलकी थर जम गई।

उसके मित्रोंने समझा, कि बीमारीके कारण इसका दिमाग फिर गया है, सो उसको पकड़कर खूब पीटा और एक कोठड़ीमें बन्ध कर दिया; पर उसपर इसका कुछ असर नहीं हुआ। सबको उसने स्पष्ट सुना दिया, कि मुझे अब धनसंपत्तिकी ज़रासी भी इच्छा नहीं। उसने फिरसे पहलेके फटे-पुराने कपड़े पहन लिये, और रोमकी यात्राको निकला। उसके अन्तरमें ईश्वरप्रेमकी सच्ची ज्योति जगमगा उठी, जिससे दूसरे मनुष्योंपर भी उसका असर हुआ; सैकड़ों मनुष्य सर्वस्वका त्याग करके उसके साथ यात्रामें शामिल हुए। उसका विचार ऐसा था, कि रोममें जाकर पोपसे मिलूँ और साधुओंका एक नया दल खड़ा करूँ।

फ्रान्सिस और उसके अनुयायी पोपके महलके पास पहुँचे। उस समय पोप इनसन्ट तीसरा (Innocent III) अपने बादशाही महलमें आनन्द कर रहा था; वह फ्रान्सिसकी ऐसी विचित्र पोशाक, थकावटके कारण ऊँची चढ़ी हुई आँखे, और सूखी लकड़ीकी तरह शरीर देखकर मनमें खूब हँसा। कहाँ उसका राजशाही ठाठ। और कहाँ यह भिखारी!

पोपको उसने जो कुछ कहा सो पोपने सुना, पर पहले तो ठीक ठीक जवाब नहीं दिया। परन्तु उसी रातको पोपको स्वप्न आया, जिसमें उसने इस क्षीणकाय फ्रान्सिसको ईसाई धर्मके महान प्रचारकके रूपमें देखा। दूसरे दिन तुरन्त ही फ्रान्सिसको बुलाकर पोपने उसका सन्मान किया और नये साधुओंके दलके संगठनके लिए अपनी पूरी सम्मति देदी, और एक आज्ञापत्र भी लिख दिया।

अब फ्रान्सिसने पूरे जोशसे अपने धर्मप्रचारका काम शुरू कर दिया। उसके उत्साह तथा धर्मशीलतासे अनुप्राणित होकर हजारों मनुष्य उसके दलमें शामिल हुए और उसके अनुयायी बने।

संत फ्रान्सिसने पूर्वके प्रदेशमें भी भ्रमण किया था। वहाँ अरब लोगोंके हाथ कैद होनेसे, उसकी अरबोंके सुलतानसे भी भेंट हुई थी। सुलतानने उसका बहुत आदर-सत्कार किया और डेमियट्टा (Damietta)

में क्रिस्ती लोगोंके मथकपर उसको पहुँचाया। इतिहास कहता है, कि फ्रान्सिसके जीवनकी अद्‌भुतता माउन्ट आलवर्नो (Mount Alverno) नामके स्थानपर सब लोगोंके देखनेमें आई थी। स्वर्गके प्रधान फरिस्ते माइकलकी स्मृतिमें उपवास चलते थे। उस समय छ पांखोंवाला एक दिव्यपुरुष उसके देखनेमें आया, और इन पांखोंके बीचमें महात्मा जीसस क्राइस्ट सूलीपर लटकते दिखाई दिए। इस दृश्यके अन्दर वह तल्लीन हो गया। थोड़े समय पश्चात् जब धीरे-धीरे यह दृश्य अदृश्य होने लगा, तब सबके देखनेमें आया, कि फ्रान्सिसके हाथों-पैरोंके ऊपर भी कीलें ठोकनेके निशान हो गए थे और उनमेंसे खून बह रहा था। स्वयं पोप अलेकजेंडर चौथे तथा दूसरे हजारों मनुष्योंने ये निशान देखे थे।

उसके धर्मका मूलमंत्र प्रेम था, जिसमें ईश्वर प्रेम, मनुष्य जातिके प्रति प्रेम, पशुपक्षियोंके प्रति प्रेम—इन सबका समावेश हो जाता है। किसीने उसको एक बकरीका बच्चा भेंट किया था, जिसको उसने बहुत ही प्यारसे पाला था। प्रार्थनामें भी उसको साथ लाता, और सबके साथ वह बच्चा भी प्रार्थनाके समय घुटने टेकता था।

फ्रान्सिसके अनुयायियोंका दल सारे संसारमें फैल गया। प्रोटेस्टन्ट धर्मके प्रादुर्भावके समय खुद इंग्लेंडमें उसके ६५ मठ थे।

ई० स० १२२६, चौथी अक्टूबरके दिन उसकी जीवन लीला समाप्त हुई। मृत्युका समय नज़दीक आया तब उसने इलाज करनेवाले हकीम एरेजो (Arezzo) से पूछा :—कहो हकीमजी मेरी हालत कैसी है ?

हकीमने जवाब दिया —ईश्वरकी कृपासे सब ठीक होगा।

फ्रान्सिसने फिर पूछा :— सच कहो, तुमको क्या मालूम होता है ? प्रभुकृपासे मैं तो मृत्युभयसे बिल्कुल मुक्त हो गया हूँ, सो सच कहते ज़रा भी मत अटको। भगवान्‌के साथ मेरी ऐसी एकता हो गई है, कि मुझे तो मरण में भी जीवन जितना ही आनन्द है।

इसपर हकीमने स्पष्ट कह दिया, कि तुम्हारा मृत्युसमय आ पहुँचा है। ये शब्द सुनकर पूर्ण श्रद्धा तथा भक्तिपूर्वक वह आँखें बन्दकर

ध्यानमग्न हुआ और थोडी देरमें आनन्द तथा उमंगके साथ बोल उठा --
"प्रिय मृत्यु ! चली आ, तुझसे भेंट करनेके लिए मैं तैयार हूँ।"

—०—

महात्मा जरथुस्त्र

ईरानके रए नामक शहरमें राजवंशी कुटुम्बमें एक सद्गुणी, सदाचारी पुरुष, पोडरूशस्पके घर महात्मा जरथुस्त्रका जन्म हुआ था।

पारसी धर्मग्रंथ अवस्ताकी गाथामें कहा है, कि इस समयमें सब जगह अनाचार हो रहा था; पापकी प्रवृत्ति इतनी प्रबल हो गई थी, कि पृथ्वी माताने गायका स्वरूप धारणकर, ईश्वरके दरबारमें पुकार की, "प्रभु ! इस त्राससे बचाओ, अब मैं पापका भार सहन नहीं कर सकती।"

पृथ्वीमाताका करुण-क्रन्दन सुन भगवानने महर्षि जरथुस्त्रको पृथ्वी-पर भेजा।

इस बालकके जन्मसे पहले ही ईरानके दुराचारी बादशाह तथा सरदारोंको अशुभ शकुन होने लगे, जिससे इनका नाश करनेके लिए उन्होंने अनेक युक्तियाँ आजमाई, पर सब निष्फल गईं। गर्भस्थ बालकमें भी इतना तेज था, कि माताके उदरमें होनेपर भी इनका स्वरूप स्पष्ट दिखाई देता था। जन्म होते समय इनका मुखमंडल दिव्य तेजसे जगमगाने लगा। पिताने बालकका नाम स्पितम रखा।

विरोधियोंने इनको दुःख देनेमें कुछ कसर नहीं रक्खी। इनको आगमें डाला, तो आग ठंडी हो गई, बाघोंके झुंडमें फेंका, तो बाघोंके जबड़े ही नहीं खुले; इनपर घोड़े दौड़ाये तो भी इनको ज़रा भी चोट न आई।

पन्द्रह वर्षकी उम्रमें इन्होंने घर-बार, कुटुम्ब-कबीला, धन-संपत्ति-- इन सबका त्यागकर पूरे पन्द्रह वर्ष तक तपश्चर्या की। इस समयके बीचमें

अहुरेमन यानी कामादि शत्रुओंने इनपर अनेक वार हमला किया, परन्तु इन्होंने तो निश्चय किया हुआ था, कि प्राण जाँय वा शरीरकी हड्डियाँ चूर चूर हो जाँय तो भी ईश्वरकी आराधना छोड़नी नहीं है। तपश्चर्या करके सिद्धि प्राप्त करनेके बाद ये जरथुस्त्र कहलाये, जरथुस्त्र अर्थात् सुनहरी रोशनीवाला।

संपूर्ण ज्ञान और परम शान्ति प्राप्त करनेके पश्चात् कर्तव्य पालनके लिए ये जगल छोड़, जन समूहके बीचमें रहने लगे। इस समय इनकी उम्र लगभग तीस वर्षकी थी। पूर्ण आस्था और श्रद्धा सहित इन्होंने अपना संदेश जनसमाजको सुनानेका कार्य शुरू कर दिया। इनके पैगामका सार है: सच्चिदानन्दस्वरूप ईश्वरकी आराधना और मानवसेवा।

जगत्ने पहले तो इनके इस पैगामको झेलनेकी तत्परता नहीं बताई, पर बादमें बेकट्रीया (Bactria) के बादशाह वीश्तास्पेने इनको मान देकर अपने यहाँ बुलाया और इनके उपदेशको स्वीकार किया। दुष्टोंकी पराजय हुई और फिर पृथ्वीमाता परसे पापका बोझा कम हुआ, सर्वत्र शान्ति और सत्यका राज्य स्थापित हुआ।

महात्मा जरथुस्त्रके जन्म समयके सबधमें बहुत मतभेद है, कोई कहता है, कि ये ईस्वी सन्से छः सौ वर्ष पहले हो गए और कोई तो इनका जन्म इससे हजारों वर्ष पूर्व हुआ था ऐसा कहते हैं।

इनका उपदेश सक्षेपमें नीचे लिखे अनुसार दिया जा सकता है —

ईश्वर एक है, सर्वोपरि है और चराचर जगत्का स्वामी है, विश्वका नियता है और सब तरहसे सपूर्ण है। ऐसी सपूर्णता प्राप्त करनेको प्रत्येक जीव प्रयत्नशील है।

इस प्रकार षड्गुणसपन्न ईश्वरकी उपासना करनेका सदेशा इन्होंने जगत्को दिया है। ईश्वरको पहुँचनेके तीन रास्ते हैं, ज्ञानमार्ग, भक्तिमार्ग, कर्ममार्ग। जरथोस्ती धर्ममें कर्ममार्गपर विशेष जोर दिया है, क्योंकि ईरानकी प्रजा स्वभावसे कर्मशील थी।

ये महात्मा कहते हैं '— ईश्वरने हमको जो कुछ दिया है वह बाँधकर रखनेके लिए नहीं है, परन्तु सद्व्यय करनेके लिए है। हमको कोनेमें स्थापित बँधे हुए तालावकी तरह नहीं होना चाहिए, पर बहती नदीकी तरह रहना चाहिए। यदि हम हमारी शक्ति, धन, ज्ञान, बल, अथवा धर्मका दूसरोंको दान करेंगे तो उससे ये सब ज़रा भी घटेंगे नहीं, उलटे ये महत्तगुणे बढ़ेंगे, ऐसे मनुष्योंको ईश्वर अधिकाधिक देता है, जैसे जैसे हमारी शक्ति बढ़ती है, वैसे वैसे हमारे द्वारा मनुष्यसेवा भी अधिक होती है।

'परोपकार'—इस एक शब्दमें जरथोस्ती धर्मका रहस्य दिया जा सकता है। सच्चा जरथोस्ती अपने लिए कुछ नहीं माँगता, दूसरोंके भलेकी ओर लक्ष्य रखकर ही अपने सब कार्य करता है।
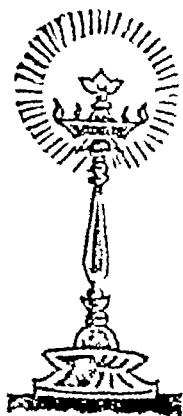
प्रकरण छठा

—०—

प्रार्थनाएँ

(१)

शुकदेव द्वारा की हुई प्रार्थना —

ॐ जगत्‌की उत्पत्ति, स्थिति तथा लयरूपी लीला करनेके लिए सात्विकादि तीन प्रकारकी मायाशक्तिको धारणकरनेवाले, शरीरधारियोंके अन्तरमें रहनेवाले और इन्द्रियोंके अगोचर, अपार महिमावाले सर्वश्रेष्ठ पुरुष भगवानको मैं नमस्कार करता हूँ।

धर्मनिष्ठ सत्पुरुषोंके दु:खको नाश करनेवाले, अधर्मियोंका संहार करनेवाले, संपूर्ण सत्वमूर्त्तिवाले, परमहंस आश्रममें अवस्थित आत्मनिष्ठ पुरुषोंको आत्मज्ञान देनेवाले भगवानको बार बार नमस्कार करता हूँ।

भक्तोंका पालन करनेवाले, भक्तिहीन योगियोंसे दूर रहनेवाले, जिनके बराबर या जिनसे अधिक कोई नहीं ऐसे ऐश्वर्यसे अपने स्वरूप परब्रह्ममें विहार करनेवाले, ऐसे आप भगवानको बारम्बार नमस्कार करता हूँ।

जिनका कीर्तन, स्मरण, दर्शन, वंदन, श्रवण तथा पूजन लोगोंके पापोंका तत्काल नाश करता है, उन कल्याणकारी भगवानको बारम्बार नमस्कार करता हूँ।

विवेकीजन जिनके चरणारविंदका आश्रय लेकर इस लोक तथा परलोकके सुखमेंसे मनकी आसक्तिको खींचकर परिश्रम रहित हो परब्रह्मकी गतिको प्राप्त होते हैं, ऐसे कल्याणकारी भगवानको बारम्बार नमस्कार करता हूँ।

ज्ञानी पुरुष जिनके चरणारविंदके ध्यानरूपी समाधिसे बुद्धिको शुद्ध

करके, उसके द्वारा आत्मस्वरूपका साक्षात्कार करते हैं, और जिनको पंडित अपने अपने मतानुसार (सगुण निर्गुण रूपसे) वर्णन करते हैं, वे भगवान मुकुन्द मुझपर प्रसन्न होवें। (भागवत स्कंध २)

हे विभो ! दीन पुरुषोंके प्रार्थना करने योग्य तुम्हारे चरणोंकी सेवाके सिवाय मैं दूसरा कुछ भी वर नहीं माँगता, क्योंकि हे हरि ! मोक्ष देनेवाली आपकी आराधना करके कौन विवेकी पुरुष आत्माका बंधन करने वाला वर माँगे ? इसलिए हे ईश्वर ! रज, तम, और सत्वगुणोंसे बँधे हुए सब प्रकारके सुखोंकी आशा छोड़ निरंजन, निर्गुण, अद्वय, ऐसे आप परमपुरुषके शरण आता हूँ। हे शरण देनेवाले परमात्मन् ! इस संसारमें बहुत दिनसे दुष्ट कर्मोंके फलरूप पीड़ा पाता हूँ, अनुतापसे जला करता हूँ, छ: इन्द्रियोंरूपी शत्रु भी तृष्णारहित नहीं होते, किसी भी तरह मुझे शान्ति नहीं मिलती—ऐसा मैं आपके अभय, अमृत और शोकरहित चरणारविंदके शरण आया हूँ, सो हे ईश ! इस शरणागतको पालना करो। (स्कंध १०)

कायेन वाचा मनसेन्द्रियैर्वा बुद्ध्यात्मना वाऽनुसृतस्वभावात्
करोमि यद्यत्सकलं परस्मै नारायणायेति समर्पयामि ॥

(स्कंध ११, अ० २-३६)

कायासे, वाणीसे, मनसे, इन्द्रियोंसे, बुद्धिसे, अहंकारसे अथवा अभ्याससे माने हुए स्वभावसे जो कुछ कर्म करता हूँ, वह सब परमात्मा नारायणके अर्पण करता हूँ।

यदि रासीश मे कामान् वरांस्त्वं वरदर्षभ
कामानां हृद्यसंरोहं भवतस्तु वृणे वरम् ॥

(स्कंध ७, अ० १०-७)

तूही ससार भीती विनाशकारी, अविनाशी गति भक्त दुःखहारी।
मोक्षोच्च पदको तूही एक दाता, नमस्ते नमस्ते कल्याण कर्त्ता॥
अनिर्देष्य ब्रह्म तू आत्मविलासी, गुणातीत हो पर गुणाभिलाषी।
अचिन्त्य अक्षर शुद्धबुद्धि भाषा, नमस्ते नमस्ते कल्याण कर्त्ता॥
तुझे ही नमस्कार वारंवार हो, हमें भक्ति देकर उद्धार करो।
यही है प्रार्थना तुझसे हमारी, नमस्ते नमस्ते कल्याणकारी॥ ॐ॥

(५)

ॐ हे प्रभु, तुझसे यह विनति हम सब बालक करते हैं।
विशुद्ध जीवन हो हमारा हम यह दिलसे चाहते हैं॥
निष्पाप राहसे जीवन गुजारें दुष्ट आचरनसे बचें।
परहित-व्रतमें प्रीति रहे दया-धर्म कभी नहीं छोड़ें॥
स्वदेश स्वधर्मकी सेवामें रहें हम सब सदा तत्पर।
घनघोर संकट आ पड़े तो भी रहें स्वस्थ व निडर॥
दौर्बल्यको स्थान न देवें हिम्मत अचल सदा रहे।
बनें शूरवीर व जीतेन्द्रिय सत्यनीतिमें स्थिर रहें॥
यही प्रार्थना तुझसे हम सब नित्य प्रेमसे करते हैं।
सफल जिन्दगी हो हमारी इतनी कृपा हम चाहते हैं॥ ॐ॥

(६)

हे शिव, चराचर प्राणियोंके कर्त्ता
पालक तुम प्रभु पुन जगहर्ता
सब दु ख—दारिद्र—संताप हर्ता
तुम शकर शरणद शरण हो मेरी॥ १॥

विगतमोह रजस्तम – मल – मुक्त
सदा ध्यानयुक्त ऋषि–मुनि–भक्त
परम अमल रूप तुम्हारा नित्य
तुम शंकर शरणद शरण हो मेरी॥ २॥

भाले अर्धचन्द्र गंगा जटापर
उमा वामार्द्ध अंगे शोभे मनोहर
त्रिताप-हरन शिव करुणाकर
तुम शंकर शरणद शरण हो मेरी ॥ ३ ॥

तुम महादेव सर्व देव पूजित
सकल गुणनिधान अपूर्व चरित
आश्रय सबके मृत्युञ्जय वरद
तुम शंकर शरणद शरण हो मेरी ॥ ४ ॥

दक्षयज्ञ-विनाशी तुम सतीनाथ
दंडित दंभित देव मनुज प्रमत्त
असीम क्षमाशील प्रमथेश शान्त
तुम शंकर शरणद शरण हो मेरी ॥ ५ ॥

भस्मावृत धूसर अंग सुशोभन
त्रिशूल-डमरू कर फणीन्द्रभूषन
प्रसन्न मूरति चिदानन्दघन
तुम शंकर शरणद शरण हो मेरी ॥ ६ ॥

भोलानाथ त्रिभुवन प्रतिपालक
उदार दाता वर जो मांगे याचक
ऋद्धि-सिद्धि ज्ञान जगबंधमोचक
तुम शंकर शरणद शरण हो मेरी ॥ ७ ॥

ॐ नमः शिवाय ॥ ॐ ॥

(७)

सत्य-धर्म

सत्य धर्म ते मानव-धर्म प्रेम तेमां छे प्रधान,
द्वेष-घृणा के निन्दा करवी अधर्म ते तो एवं जाण ॥

गरीब दुःखीओनी सेवा तेमां छे खरी मानवता,
नात – जातनो भेद केवो ज्यां छे एवि मान्यता ॥
अपना इष्टदेव प्रत्ये हृदयमां खरो प्रेम राखो,
पण कोईनी इष्टनी निन्दा जिव्हा थकीय मत भाखो ॥
राम कृष्ण शिव हरि विष्णु एकज देवना छे प्रकास,
निराकार निरंजन ब्रह्म नानारूप थी करे विलास ॥
मायिक आ तो छे लीला सब निर्विकार ते सदा रहे,
मानव–बुद्धि थी अगोचर अगम्य ते वेद कहे ॥
ते श्रीदेवाधीश देवने वारवार करो नमन,
अपना मान्य प्रभु रूपने दिलमां राखो सुगोपन ॥

(८)

ॐ सुनु मैं कानोंसे शुभकरी भद्रवाणी ।
देखु मैं आखोंसे सुदृश्य शुभकरणी ।
सुस्थिर तनु धरि रहूँ शुभ–सेवामें ।
बितावुं आयुष्य मेरा सतत देवहितमें ।
एहि एहि माँगु तुमसे कर जोडीके ।
देहु दर्शन दान, प्रभु, दया करिके ॥ ॐ ॥

From the Bible & Imitation of Christ.

PSALM 148

1. Praise ye the Lord. Parise ye the Lord from the heavens ; praise him in the height.

2. Praise ye him, all his angles, praise ye him, all his hosts.

3. Praise ye him, Sun and Moon; praise him, all ye Stars of light.

4. Praise him, ye heavens of heavens, and ye waters that be above the heavens.

5. Let them praise the name of the Lord; for he commanded, and they were created.

6. He hath also stablished them for ever and ever; he hath made a decree which shall not pass.

7. Praise the Lord from the earth, ye dragons, and all deeps.

8. Fire and hail; snow and vapours; stormy wind fulfilling his word.

9. Mountains, and all hills, fruitful trees, and all cedars.

10. Beasts, and all cattle, creeping things and flying fowl

11. Kings of the earth, and all people, princes, and all judges of the earth.

12. Both young men and maidens; old men and children.

13. Let them praise the name of the Lord, for his

name alone is excellent, his glory is above the earth and heaven

[From the Imitation of Christ]

Enlarge thou me in love, that I may learn to taste with the innermost mouth of my heart how sweet it is to love, to be dissolved and to swim in love Let me be holden by love, mounting above myself through exceeding fervour and admiration Let me sing the song of love, let me follow Thee my Beloved on high, let my soul exhuast itself in Thy praise, exulting with love Let me love Thee more than myself, not loving myself except for Thy sake, and all men in Thee who truly love Thee, as the law of love commandeth which shineth forth from Thee Amen (Chap V P 85)

Grant me Thy grace, most merciful Jesus, that it may be with me, and work in me, and persevere with me even unto the end Grant that I may ever desire and wish whatsoever is most pleasing and dear unto Thee.

Let Thy will be mine, and let my will always follow Thine and entirely accord with it May I choose and reject whatsoever Thou dost, yea, let it be impossible for me to choose or reject except according to Thy wlll

Grant that I may die to all worldly things, and for Thy sake love to be despised and unknown in this world Grant unto me, above all things that I can desire, to rest in Thee, and that in Thee my heart

may be at peace. Thou art the true peace of the heart, Thou alone its rest, apart from Thee all things are hard and unquiet. In Thee alone, the supreme and eternal good, I will lay me down in peace and take my rest. **Amen.**

DAILY PRAYER

our father which art in heaven, Hallowed be Thy name, Thy kingdom come, Thy will be done in earth as it is in heaven

Give us this day our daily bread And forgive us our debts, as we forgive our debtors

And lead us not into temptation, but deliver us from evil, for Thine is the Kingdom and the power and the glory, for ever. **Bible.**

SERMON ON THE MOUNT

1 Blessed are the poor in spirit, for theirs is the Kingdom of heaven

2 Blessed are they that mourn, for they shall be comforted.

3. Blessed are the meek, for they shall inherit the earth.

4. Blessed are they which do hunger and thirst after righteousness, for they shall be filled

5 Blessed are the merciful, for they shall obtain mercy.

6 Bleesed are the pure in heart, for they shall see God

7 Blessed are the peacemakers, for they shall be called the children of God

8 Blessed are they which are persecuted for righteousness' sake, for theirs is the kingdom of heaven

(St. Matthew, 5)

कुरानमेंसे उपदेश

१ ला इलाह इल्लाल्लाह

(उपासना योग्य) अन्य देव नहीं, एक परमेश्वर ही है।

२ पूर्व व पश्चिम—जहाँ देखो तहाँ है परमेश्वर, और उनकी महिमा। वे दयालु व सर्वज्ञ हैं।

३ जो उनका एकान्तिक शरण लेता है और जो औरोंकी भलाईमें रत है, उसको ज़रूर मिलेगा आशिष (Reward) प्रभुसे, और न रहेगी उसके लिये कोई डरकी आशंका, न उसे कभी अफसोस करना पड़ेगा।

४ जो ईश्वरके लिए मारे जायँ उनको मरे हुए न कहो, बल्कि वे तो जीवित हैं, पर तुम समझ नहीं सकते।

५. जिसने अपनेको पहचाना उसने निश्चय ही ईश्वरको पहचाना।

(अँग्रेजीसे भावानुवाद)

भजन

(१)

न जात न पात है रे, प्रभुके दरबारमें ।
सभीका स्थान है रे, प्रभुके दरबारमें ॥
तपन तपे सभी पर, चाँदा भी झलके रे ।
ऊँच नीच पापी पुण्यी भेद न करे कोई रे—
वैसा ही प्रेम बरषे—श्रीप्रभु सबपर रे ।
पाय सो नर जो चाहे प्रभुके दरबारमें ॥
निडर हो चलो सब, प्रेम रस पीवो रे—
भूलो की जो भूलों रे । भ्रांति सब टालो रे ।
हो पवित्र जितेन्द्रिय करो हरि कीर्तन रे ।
मस्त रहोगे प्रेम में,—प्रभुके दरबारमें ॥

(२)

[राग—आसा, ताल—दादरा]

दीनन-दुःख-हरन देव सन्तन हितकारी ॥ ध्रु० ॥
अजामिल गीध व्याध, इनमें कहो कौन साध ।
पंछीको पद पढ़ात गणिका सी तारी ॥ १ ॥
ध्रुवके सिर छत्र देत, प्रह्लादको उबार लेत ।
भक्त हेत बांध्यो सेत, लंकापुरी जारी ॥ २ ॥
तंदुल देत रीझ जात, साग पात सों अघात ।
गिनत नहीं झूठे फल खाटे मीटे खारी ॥ ३ ॥
गजको जब ग्राह ग्रस्यो, दुःशासन चीर खस्यो ।
सभा बीच कृष्ण कृष्ण द्रोपदी पुकारी ॥ ४ ॥
इतने हरि आय गये बसनन आरूढ़ भये ।
सूरदास द्वारे ठाढ़ो अधरो भिखारी ॥ ५ ॥

(३)

[राग—देस, ताल—दादरा]

तू दयालु, दीन हौं, तू दानि हौं भिखारी।
हौं प्रसिद्ध पातकी, तू पापपुञ्जहारी ॥ १ ॥

नाथ तू अनाथ को, अनाथ कौन मोसो ?
मो समान आरत नाहिं, आरत हर तोसो ॥ २ ॥

ब्रह्म तू, हौं जीव, तू ठाकुर, हौं चेरो।
तात मात गुरु सखा तू, सब विधि हि तू मेरो ॥ ३ ॥

तोहिं मोहिं नाते अनेक मानियै जो भावै।
ज्यों त्यों तुलसी कृपालु चरन सरन पावै ॥ ४ ॥

(४)

[राग—मालकंस, ताल—झपताल]

शूर संग्रामको देख भागै नहीं, देख भागे सोई शूर नाहीं।
काम औ क्रोध मद लोभसे जूझना, मँडा घमसान तहँ खेत माहीं।
शील औ सौच संतोष साथी भये, नाम समसेर तहँ खूब बाजै।
कहे कबीर कोइ जूझि है शूरमा, कायरां भीड़ तहँ तुरन्त भाजै ॥

(५)

[राग—बिहाग, ताल—तीनताल]

नाम जपन क्यों छोड़ दिया ?

क्रोध न छोड़ा, झूठ न छोड़ा, सत्य वचन क्यों छोड़ दिया ? ॥ ध्रु० ॥

झूठे जगमें दिल ललचा कर, असल वतन क्यों छोड़ दिया ?
कौड़ी को तो खूब सम्हाला, लाल रतन क्यों छोड़ दिया ? ॥ १ ॥

जिहि सुमिरन ते अति सुख पावे, सो सुमिरन क्यों छोड़ दिया ?
खालस इक भगवान भरोसे, तन मन धन क्यों न छोड़ दिया ? ॥ २ ॥

(६)

[राग—सिंध–काफी]

प्रभु मेरे अवगुण चित न धरो ।
समदरशी है नाम तिहारो, काहे भेद करो ॥
इक नदिया इक नार कहावत मैलो हि नीर भरो ।
जब मिल करके एक बरन भये सुरसरि नाम पर्यो ॥
इक लोहा पूजा में राखत, इक घर बधिक पर्यो ।
पारस गुण अवगुण नहिं चितवत, कंचन करत खरो ॥
यह माया भ्रमजाल कहावत सूरदास सगरो ।
जब एक ब्रह्म है तो ज्ञानी काहे भेद करो ॥

(पाठभेद)

पंक्ति २—चाहे तो पार करो ।
४—जब मिले गंगाजी में तब सुरसरि नाम पर्यो ॥
८—अबकी बेर मोहिं पार उतारो नहिं प्रन जात टरो ॥

(७)

[राग—तिलक कामोद]

पायो जी मैंने राम रतन धन पायो ॥ टेक ॥
वस्तु अमोलिक दी मेरे सतगुरु किरपा कर अपनायो ॥ १ ॥
जनम जनम की पूंजी पाई जगमें सभी खोवायो ॥ २ ॥
खरचै न खूटै, वाको चोर न लूटे, दिन दिन बढ़त सवायो ॥ ३ ॥
सत की नाव, खेवटिया सतगुरु भवसागर तर आयो ॥ ४ ॥
मीरां के प्रभु गिरिधर नागर हरख हरख जस गायो ॥ ५ ॥

(८)

[राग—अडाणा कानड़ा ताल—त्रिताल]

नाथ निरंजन ! तु नित मारा जीवन नो ध्रुवतारो ।
आ भवसागरमा न हुवे हु मार्ग कदी भूलनारो ॥ नाथ० ॥

गगने छोने वीज कडाका, उछले मोजां छोने हजारों,
अन्तर मूर्त्ति तारी विराजे, तो न जरी डरनारो ॥ नाथ० ॥
कोलाहल छोने चोपासे, जलनो छो नहिं आरोधारो;
हस्त ग्रहीने जो तु दोरे, केम पछी डूबनारो ॥ नाथ० ॥
साथी संगे छो नहिं कोई, मचमां छोने खडकनीहारो,
तारक जो तु एकज सगे, तो नथी दूर किनारो ॥ नाथ० ॥

(६)

कद आवोला सॉवलिया म्हारे देश, ऊभी जोऊँ वाटड़ली ।
मन मन्दिरमें ग्यान बुहारी दे लीनी भरपूर,
पापको कूड़ो सोर बगा दियो छै बोळी दूर,
धोया आगणियाँने आँसूड़ा बहाय,
ऊभी जोऊँ वाटड़ली ॥ कद० ॥
हिवदेरे सिंगासण ऊपर ग्यान बिछायो चीर,
सूनो आसण देख देख नैणांसूं ढलक्यो नीर,
म्हारे नैणामें समाओ घनश्याम,
ऊभी जोऊँ वाटड़ली ॥ कद० ॥
भोळी सूरत सॉवली घुँघराळा काळा केश,
कामणगारी बाँसरी थांरो नटनागर रो भेष
दिखादोजी ग्वालारा सरदार,
ऊभी जोऊँ वाटड़ली ॥ कद० ॥
नेह नदी पर वास करो अँठे छै जमना तीर,
कृष्ण राधिका एक ज्योति निराळा जादूगीर,
करस्यां जमना जलमें युगल विहार,
ऊभी जोऊँ वाटड़ली ॥ कद० ॥

ॐ शान्ति, शान्ति, शान्तिः ॥ ॐ ॥

शुद्धि-पत्र

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
१	६	किंचिद वांछति॥	किंचिद वांछति।
७	१७	शा परानुरक्तिरीश्वरे	सा परानुरक्तिरीश्वरे
१३	१	आरोपण	आरोप
१३	१३	हिरण्यकश्यपु	हिरण्यकशिपु
१६	१०	अभलषित	अभिलषित
१६	१४	द्वेषान	द्वेषाद
१६	१४	भक्तयेश्वरे	भक्त्येश्वरे
२७	३	बाइबिल	बाइबल
२८	२	प्रति ही	द्वारा ही
२८	११	केवल्य	कैवल्य
३३	४	विपुलाह्लाद	विपुलाह्लाद
३७	६	आत्मसर्पण	आत्मसमर्पण
३६	१८	महिषगलघटा	महिपगलघण्टा
४८	१४	सच्चे मनुष्योंमेसे	सच्चे मनुष्यत्वसे
५७	१८	क्रद्धो	क्रुद्धो
५६	१२	पहले दिन	अन्तिम दिन
६७	२२	वन्धुरय	वन्धुरयं
६७	२२	लघुचेतसाम	लघुचेतसाम्
६६	१८	प्रकीतित	प्रकीर्तितः

८६	५	अर्थात्	(पढ़ना नहीं है)
८९	१०	वराग	वैराग
९४	३	सर्वस्वो	सर्वे स्वः
९४	१९	दासे	दास्ये
९५	१	करानेमे	करनेमे
१००	६	गयाशिरः	गयशिरः
१०७	२	जघन्यमाना.	जंघन्यमानाः
११३	१	पूजापूवक	पूजापूर्वक
११८	६	सत्यदृष्टिका	सत्यदृष्टिकी
१२१	१९	करते हैं	अवस्थान करते हैं
१२१	२०	अवस्थान	(पढ़ना नहीं है)
१२७	१	तेजांशशेपतः	तेजाशाऽशेपतः
१२७	१६	संचुकोचान्तकाले	सचुकोपान्तकाले
१२८	२१	योगमायाके यत्रपर	योगमायाके द्वारा यंत्रपर
१३९	२२	उतर	उतरें
१४६	२६	तुरिय	तुरीय
२०६	६	मृत्योर्मा अमृत	मृत्योर्माऽमृतं
२०८	४	भापा	भासा
२१३	८	in earth	on earth
२१३	१२	bad us	lead us

शुद्धि-पत्र

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
१	६	किंचिद् वांछति ॥	किंचिद वांछति ।
७	१७	शा परानुरक्तिरीश्वरे	सा परानुरक्तिरीश्वरे
१३	१	आरोपण	आरोप
१३	१३	हिरण्यकश्यपु	हिरण्यकशिपु
१६	१०	अभलषित	अभिलषित
१६	१४	द्वेषान	द्वेषाद्
१६	१४	भक्तयेश्वरे	भक्त्येश्वरे
२७	३	बाइविल	बाइबल
२८	२	प्रति ही	द्वारा ही
२८	११	केवल्य	कैवल्य
३३	४	विपुलाह्लाद	विपुलाह्लाद
३७	६	आत्मसर्पण	आत्मसमर्पण
३६	१८	मह्षिगलघटा	महिषगलघण्टा
४८	१४	सच्चे मनुष्योंमेंसे	सच्चे मनुष्यत्वसे
५७	१८	क्रद्धो	क्रुद्धो
५६	१२	पहले दिन	अन्तिम दिन
६७	२२	वन्धुरय	वन्धुरयं
६७	२२	लधुचेतस्माम	लघुचेतसाम्
६६	१८	भकीतित'	प्रकीर्तितः

८६	५	अर्थात्	(पढ़ना नहीं है)
८६	१०	वराग	वैराग
६४	३	सर्वस्वो	सर्व स्वः
६४	१६	दासे	दास्ये
६५	१	करानेमे	करनेमें
१००	६	गयाशिरः	गयशिरः
१०७	२	जघन्यमानाः	जंघन्यमानाः
११३	१	पूजापूवक	पूजापूर्वक
११८	६	सत्यदृष्टिका	सत्यदृष्टिकी
१२१	१६	करते हैं	अवस्थान करते हैं
१२१	२०	अवस्थान	(पढ़ना नहीं है)
१२७	१	तेजांशशेपत.	तेजांशऽशेषतः
१२७	१६	संचुकोचान्तकाले	संचुकोपान्तकाले
१२८	२१	योगमायाके यंत्रपर	योगमायाके द्वारा यंत्रपर
१३६	२२	उतर	उतरें
१४६	२६	तुरिय	तुरीय
२०६	६	मृत्योर्मा अमृत	मृत्योर्माऽमृतं
२०८	४	भापा	भासा
२१३	८	in earth	on earth
२१३	१२	bad us	lead us

इस पुस्तकके मुद्रणार्थ गुजरातके एक श्रीमान् स्नेही भाईकी तरफसे दान रु० ४००) मिला है, जिसके लिये हम उनके बहुत आभारी हैं।

—प्रकाशक